

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



- विष्णु प्रभाकर से साक्षात्कार
महेश दर्पण
- रीतिकाल और आधुनिक काल
के संधि युग के कवि
आत्माराम शर्मा 'अरुण'
- लघु पत्रिकाएं : सरोकार और
संकल्प
ज्ञानप्रकाश विवेक
- रामधारी सिंह दिवाकर की
कहानी
- नईम, जवादीश चंद्र आदि की
कविताएं

प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने वालों के लिए उपयोगी पत्रिका



कुरुक्षेत्र

(ग्रामीण विकास की प्रमुख मासिक पत्रिका)



कुरुक्षेत्र ग्रामीण विकास को समर्पित एकमात्र पत्रिका है, जिसकी सामग्री खास तौर से सिविल सेवा परीक्षाओं को ध्यान में रख कर तैयार की जाती है। कुरुक्षेत्र में प्रतिष्ठित विद्वानों और विशेषज्ञों की ग्रामीण विकास के विविध पक्षों से जुड़ी तथ्यपूर्ण रचनाएं प्रकाशित की जाती हैं।

अपने समाचार विक्रेता से लें या फिर ग्राहक बनने के लिए हमें लिखें

सदस्यता की दरें

वार्षिक : 50 रुपये

द्विवार्षिक : 95 रुपये

त्रिवार्षिक : 135 रुपये

डिमांड ड्राफ्ट/ पोस्टल ऑर्डर/ मनीऑर्डर इस पते पर भेजें :

सहायक व्यापार व्यवस्थापक (प्रसार), प्रकाशन विभाग (पत्रिका एकांश),
ईस्ट ब्लॉक-IV, लेवल-VII, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

इन स्थानों पर भी उपलब्ध है :



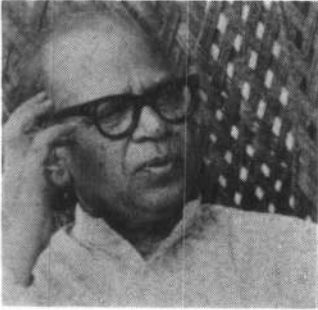
विक्रय केंद्र : प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली, सुपर बाजार, कर्नाट सर्कस, नई दिल्ली, राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई; 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता; बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना; प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम; 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ; कॉमर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालोंर्ड पायर, मुंबई; राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्ड्स, हैदराबाद; पहली मंजिल, एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर

बिक्री काउंटर : पत्र सूचना कार्यालय

सी. जी. ओ. कॉम्प्लैक्स, ए विंग, ए. बी. रोड, इंदौर; 80, मालवीय नगर, भोपाल; के-21, नंद निकेतन, मालवीय मार्ग, सी स्कीम, जयपुर

लेख



10. एक अविराम सृजन-यात्रा

उम्र के नवें दशक के उत्तरार्द्ध में इंसान सोते-सोते भी जागता ही रहता है। लगभग यही स्थिति है विष्णु जी की भी। आमतौर से, जब दिल्ली में होते हैं, तो सुबह पांच बजे उठ जाते हैं। सुबह के

वक्त चौकी जम जाती है तो फिर दो बजे तक निरंतर काम होता रहता है। इसके बाद भोजन फिर कुछ विश्राम और फिर शाम को काफी हाउस जाने की तैयारी। सुविख्यात साहित्यकार विष्णु प्रभाकर की दिनचर्या का अंतरंग परिचय **महेश दर्पण** द्वारा

11. विष्णु प्रभाकर का रचना संसार

विष्णु जी की कृतियों का परिचय - **अलका पांडे**

18. संधि युग के कवि

आज से 200 वर्ष पूर्व जन्मे कवि चंद्रशेखर वाजपेयी रीतिकाल तथा आधुनिक काल के संधि युग के कवि थे। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उन्हें आचार्य, कवि, भक्त एवं अनुवादक के रूप में सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। रीति, नीति, राजनीति, वीर तथा शृंगारपरक रचनाओं के प्रणयन में वह निष्णात माने गए हैं। प्रसिद्ध वीर काव्य **हमीर हठ** उन्हीं की कालजयी कृति है। द्विशताब्दी के अवसर पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय दे रहे हैं **आत्माराम शर्मा 'अरुण'**

28. प्रगति, प्रतिबद्धता और प्रतिक्रिया

दार्शनिकों ने जीवन की अनेक रूपों में व्याख्या की है। इसके

अलावा उन्होंने जीवन और समाज में घटित होने वाले क्रिया-व्यापार को भी अपनी-अपनी तरह से परिभाषित किया है। इसी क्रम में उन्होंने प्रगति, प्रतिबद्धता और प्रतिक्रिया के बारे में भी समीक्षा की है। इससे जुड़ी विभिन्न विचारधाराओं का मूल्यांकन और विश्लेषण कर रहे हैं **प्रकाश सत्येन नटराजन**

37. सरोकार और संकल्प

हमारे समय के सच को, समाज के यथार्थ को, मनुष्य के अकेला पड़ते जाने के कष्ट को समझते-पहचानते हुए चुनौतियों से जूझने की ताकत पैदा करती हिंदी साहित्य जगत की कुछ लघु पत्रिकाएं बेहद सीमित संसाधनों के बावजूद, हिंदी साहित्य को जिंदा रखने में तथा उसे बहस-तलब बनाने में समर्थ हुई हैं। लघु पत्रिकाओं पर टिप्पणी प्रस्तुत कर रहे हैं **ज्ञानप्रकाश विवेक**

साक्षात्कार

7. अभी और लिखना चाहता हूँ मैं

वरिष्ठ साहित्यकार और गांधीवादी लेखक के रूप में विख्यात विष्णु प्रभाकर से **महेश दर्पण** की बातचीत

कहानी

13. पुनरागमन

रामधारी सिंह दिवाकर

42. पहला पाठ

सत्यभूषण वर्मा

व्यंग्य

35. काश! हम भी ...

रामप्रकाश मेंहदीरता

कविताएं

24. तीन गीत

नईम

25. चार कविताएं

हेमंत कुकरेती

26. दो कविताएं

जगदीश चंद्र

27. दो गज़लें

केवल गोस्वामी

पुस्तक चर्चा

44. बाल-साहित्य पर एक सार्थक चिंतन

हरिकृष्ण देवसरे

स्तंभ

2. पत्र

47. समीक्षा

वर्ष : 55; अंक : 8; पूर्णांक : 650;
दिसंबर 1998, अग्रहायण-पौष 1920

संपादक

सुभाष सेतिया

सहायक संपादक

योगेंद्र दत्त शर्मा

उप संपादक

रेजी कुमारी

आवरण : **धर्मवीर जयनर**

सज्जा : **एम.एम परमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग,

पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,

दूरभाष : 3387876, फ़ैक्स : 3387876

E-Mail : Indiapub@nda.vsnl.net.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : **डी.एन. गांधी**

चंदे की दरें :

एक प्रति : 5 रुपये; वार्षिक : 50 रुपये;

दो वर्ष : 95.00; तीन वर्ष : 135 रुपये

विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष

पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका :

200 रुपये या 7 डालर;

शेष विश्व : 20 डालर या 600 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :

विज्ञापन व प्रसार व्यवस्थापक

के.एस. जगन्नाथ राव

पूर्वी ब्लॉक-4, लेवल-5, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 6105590

हमारे विक्रय केंद्र

(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)

नई दिल्ली : बुक गैलरी, पटियाला हाउस;

दूरभाष : 3387983

सुपर बाजार कनाट प्लेस,

दूरभाष : 3313308

दिल्ली : बुक शाप, पुराना सचिवालय;

दूरभाष : 2518906

लखनऊ : 27/6, राममोहन राय मार्ग;

दूरभाष : 245785

कलकत्ता : 8, एस्लेनेड ईस्ट;

दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक

बिल्डिंग, अशोक राजपथ;

दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड,

बालार्ड पायर;

दूरभाष : 2612081

तिरुअनंतपुरम; गर्बर्मेंट प्रेस के निकट;

दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग,

पब्लिक गार्डन; दूरभाष : 236393

चेन्नई : राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष

: 4917673

टाइपसेट: **दिनेशचंद्र चौधरी**



दोहरी मानसिकता

● जुलाई अंक में 'साक्षात्कार' के तहत लीलाधर जगूड़ी से जोगेंद्र सिंह की बातचीत पढ़कर हिंदी रचनाकारों की दोहरी मानसिकता पर तरस आया। पहले तो वे पुरस्कार पाने के लिए अपने प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार रहते हैं। सारा लेखन पुरस्कार को केंद्र में रखकर ही करते हैं। मगर जब पुरस्कार मिल जाता है तो कहते हैं कि पुरस्कार रचना को महान नहीं बनाता। मगर वह रचनाकार को तो महान बनाता ही है, अगर ऐसा नहीं है तो आप पुरस्कार वापस क्यों नहीं कर देते। अगर जगूड़ी जी समचुच इस पुरस्कार को अनावश्यक मानते हैं तो उन्हें चाहिए कि वे उसे वापस कर दें। अन्यथा नेताओं वाली भाषा बोलना बंद करें।
—रामस्वरूप दीक्षित, टीकमगढ़

नई जानकारी

● आजकल अरसे से पढ़ता रहा हूँ। अबकी एक लंबे अंतराल के बाद इसका अंक देखने को मिला। इस अंक में अपने स्नेही मित्र लीलाधर जगूड़ी का साक्षात्कार बहुत अच्छा लगा और भाई जगूड़ी के बारे में कई ऐसी जानकारियां दे गया जो वर्षों से मैत्री के दायरे में रहकर मैं उनके बारे में नहीं जान पाया। सरकारी तंत्र से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं के बारे में कहा जाता है कि ऐसी पत्रिकाएं साहित्यिक नहीं, बल्कि साहित्य का निर्वाह करने वाली होती हैं। लगभग तीस वर्षों से इस पत्रिका का पाठक होने के नाते मैं कहना चाहूंगा, कि यह अंक दशकों पहले के अंकों की अपेक्षा सही मायने में साहित्यिक और संपूर्ण साहित्यिक है। बहुत कम पृष्ठों में विधा वैविध्य को समेटने का आपका प्रयास अच्छा लगा।

—अवध बैरागी, लखनऊ

सौगात

● लीलाधर जगूड़ी से जोगेंद्र सिंह की बातचीत इस अंक की मुनफदर सौगात है। यह जानकर अति प्रसन्नता हुई कि वर्ष 1997 का साहित्य अकादमी पुरस्कार लीलाधर जगूड़ी जी को मिला। सबसे

अच्छी बात यह लगी कि जगूड़ी जी फिर से एक महाभारत लिखना चाहते हैं—व्यक्ति और इंद्रियों का महाभारत।

कहानियों के तहत अनिल व्यास की कहानी 'भूख' उत्कृष्ट लगी। कहानीकार को बधाई। कविताओं के तहत जर्मन कवि बर्तोल्त ब्रेख्त की कविताएं, खासकर 'डाक्टर से एक कामगार के शब्द' और 'दलदल' आज भी मानस पटल पर अंकित हैं। इस संदर्भ में अनुवाद हेतु (हिंदी में) उज्ज्वल भट्टाचार्य साधुवाद के पात्र हैं।

—दीपक वर्मा, हजारीबाग

ज्ञानवर्द्धक साक्षात्कार

● अंक अपनी सार्थकता लिए हुए प्रस्तुत हुआ। कमोबेश सभी सामग्री पठनीय व संग्रहणीय हैं। अक्षांश दर्पण पर विशद व विस्तृत जानकारी देकर आपने अंक की विशिष्टता बढ़ा दी है। लीलाधर जगूड़ी का साक्षात्कार कई अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डालता है। इसके जरिए उन्हें काफी करीब से जानने-समझने का मौका मिला। अच्छा हो कि साक्षात्कार का यह क्रम बदस्तूर जारी रखें। प्रस्तुत

अंक में सुदर्शन वशिष्ठ तथा अनिल व्यास की कहानियां अच्छी रहीं। हर अंक में एक-दो लघुकथाएं व गजल आदि भी देते चलें तो बेहतर होगा। विविधता जरूरी है।

—संजय सिन्हा, आसनसोल

मुखरित सत्य का निस्वार

● अंक जहां एक ओर अक्षांश दर्पण के पारिभाषिक शब्दों में मोती परोसता है तथा अतीत की स्मृतियों को अद्यतन स्थापित करता है वहीं दूसरी ओर अनुभव के आकाश में चांद के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित मान्यवर लीलाधर जगूड़ी का साक्षात्कार मुखरित सत्य को निखारता-सा लगता है। उनका यह कथन कि 'अभी तक सबसे अधिक निष्पक्ष और सबसे कम विवादित' शब्द समीचीन प्रतीत होते हैं। कवि का साक्षात्कार जीवन के कंटकाकीर्ण एवं जटिलताओं भरे मार्ग का अवलोकन कराकर मुखरित सत्य की भावनाओं को पुष्ट करता है। 'हाथ कंगन को आरसी क्या' वाली बात जगूड़ी जी की काव्य प्रतिभा के संदर्भ में खरी उतरती है। अंत में यह प्रासंगिक बात बनती है कि पुरस्कार रचना को महान नहीं

बनाता, अपितु रचना पुरस्कार को महान बनाती है।

—प्रहलाद प्रसाद शर्मा,
शहडोल

किस आधार पर

● जुलाई अंक पढ़ गया। पंडित नैनसिंह रावत की कालजयी कृति *अक्षांश दर्पण* के पारिभाषिक हिंदी शब्दों को देखकर कोई उन्हें निश्चित रूप से भाषा पारखी की संज्ञा देगा। उनके शब्द-निर्माण की क्षमता उनकी चमत्कारिक प्रतिभा की कसौटी एवं अकाट्य प्रमाण है। पठनीयता की शक्ति से संपन्न मकोड़ा से अफीमची मस्तराम और मस्तराम से भंगेरी टेलर मास्टर ठुकराए हुए ठीकरे की तरह कैसे समय, समाज एवं स्थिति से मेल-मिलाप कर अपने उज्ज्वल भविष्य की कामना करता है, उसका शत-प्रतिशत माकूल संप्रेषण सुदर्शन वशिष्ठ की नव्यतम कहानी *कतरनें* में हुआ है। हिमालय की उपत्यका में बूढ़ी-दियाउड़ी-वृत्तासुर मेला की वैदिक व्याख्या सचमुच में खोजपरक है। इंद्र-वृत्त संघर्ष-गाथा के बारे में प्राचीन काल से आज तक आधिकारिक विद्वानों द्वारा अनेक व्याख्याएं की गई हैं जो सभी तर्कसंगत लगती हैं, परंतु सिर्फ एक विचारधारा को ही

सच मानना समीचीन नहीं लगता है। ऐसे विभिन्न मतों की भीड़ में पद्मचंद्र काश्यप ने इंद्र-वृत्त के विषय में कोई अद्भुत एवं विलक्षण मुद्दा नहीं उठाया है जो मौलिक लगे। अपितु उन्होंने मात्र पिष्टपेषण ही किया है। एक जगह लिखते हैं कि ऋग्वैदिक कवियों को इंद्र-वृत्त संघर्ष-प्रकरण को जानकारी अपने पूर्वजों से मिली। उन्होंने स्वयं उस विवाद को घटते देखा नहीं था। जब वैदिक कवि व ऋषि इस पौराणिक संघर्ष के प्रत्यक्ष गवाह नहीं हैं तब किस आधार पर लेखक अपना मत व्यक्त करते हैं कि 'ऋग्वैदिक कवि इंद्र के ही पक्षधर थे और जनसाधारण वृत्त के साथ।' इस पंक्ति से साफ जाहिर होता है कि वैदिक कालीन कवि व गीतकार इस मिथकीय घटना के प्रत्यक्षदर्शी तो नहीं थे मगर पद्मचंद्र काश्यप ने अवश्य उस घटना को अपने विस्फारित नेत्रों से देखा है। निराधार विचार अंतर्मन की रुग्ण मानसिकता की ओर इशारा करता है। क्या लेखक मेरे विचारों से सहमत होंगे?

भारत के विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों में शोधकार्य चल रहे हैं और उस पर करोड़ों रुपये स्वाहा हो रहे हैं। अगर मारीशस, फीजी,

जमैका, सूरीनाम, गुयाना, ट्रिनिडाड एवं टोबैगो में बसे भारतीय मूल के लोगों, जिनके पूर्वज बिहार-उत्तर प्रदेश से गिरमिटिया-मजदूर के रूप में यहां से गए थे, के घर-परिवार की तलाश पर शोधकार्य हो तो इन देशों के बीच संबंध में और अधिक प्रगाढ़ता आएगी तथा हिंदू देशों के सम्मिलित रूप में एक हिंदू राष्ट्रमंडल की नींव पड़ेगी जो वैश्वीकरण की प्रक्रिया को तेज करेगी। आप्रवासी भारतीयों को अपने जन्मस्थान के लोगों से मिलन कराने में शेखर जी का भागीरथ प्रयास सदैव प्रशंसनीय है। एतदर्थ मेरा साधुवाद स्वीकार करें।

उबाऊ एवं दमघोटू कहानी 'भूख' के अंत तक आते-आते पाठक को लगता है कि शब्दों की भरती पढ़कर उसने अपना अमूल्य समय बर्बाद किया है। वस्तुतः लोगों को कथारस से वंचित रहना पड़ता है, साथ ही साहित्यिक भूख लगी ही रह जाती है। लोक काव्य बिरहा की उच्च जातियों के लोगों ने, जैसा कि चंद्रदेव यादव ने दोषारोपण किया है, कभी भी न उपेक्षा की थी और न की है। ऐसा भ्रम पालना ओछे विचारों का संसूचक है।

—रमेशचंद्र झा, दरभंगा

खोजी आलेख

● अंक में 'लीलाधर जगूड़ी से साक्षात्कार', 'वृत्तासुर लीला' व 'लोककाव्य बिरहा' पर आलेख रोचक जानकारी से परिपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक थे। बर्तोल्त बेख्त की कविता 'डाक्टर से एक कामगार के शब्द...' दिल को छू गई। बर्तोल्त बेख्त की कविताएं भारतीय परिवेश में आज भी सार्थक प्रतीत हो रही हैं। चारों कविताएं पठनीय हैं, उत्कृष्ट अनुवाद के लिए उज्ज्वल भट्टाचार्य वास्तव में बधाई के पात्र हैं।

अनिल गंगल की कविता 'भीड़ भरी बस' की कटु सच्चाई से कौन अवगत नहीं होगा। तीनों कविताएं अच्छी बन पड़ी हैं।

कल्लोल चक्रवर्ती का खोजी आलेख 'बंगला कविता का वर्तमान' रोचक, जांच-पड़ताल करते हुए उत्कृष्ट बन पड़ा है। सत्तर के दशक के बाद से समकालीन बंगला कविता अपनी प्रगतिशीलता खोती जा रही है। जिसके लिए नक्सलवाद भी कम उत्तरदायी नहीं है। बंगला कवियों के आत्मकेंद्रित हो जाने से बंगला कविता जनमानस से दूर होती जा रही है, जिसके चलते लोकप्रिय बंगला कविता के क्षितिज पर

शून्य उभर रहा है जिसका जीवंत प्रमाण आलेख में छपी दोनों कविताएं स्वयमेव उजागर कर देती हैं। तथापि जय गोस्वामी, सुबोध सरकार, रंजीत दास, मल्लिका सेनगुप्त, प्रमोद बसु सरीखे कवियों की उपस्थिति मन को आश्चर्य करती हैं।

—नरदेव सिंह, सहस्रवान

यथार्थ को छोड़कर

● कल्लोल चक्रवर्ती का लेख 'बंगला कविता का वर्तमान' उस समृद्ध साहित्य का दुरवस्था का दुखद चित्रण करता है जो कभी भारतीय साहित्य की एक सशक्त और उन्नत पक्ष था। सच ही तो है, जब आप यथार्थ को छोड़कर कल्पनाविदी समाज में

जीने की लालसा रखते हैं तो आप अपने अस्तित्व को मिटाते जाते हैं। नारों से साहित्य का तो भला नहीं ही हुआ है, समाज भी इससे भ्रमित हुआ है। आप अपने परिवेश को जानने का प्रयास न करें और दूसरी ओर देख रहे हैं तो आप जहां रहते हैं वहां से तो विश्वासघात करते ही हैं। इनकी अवस्था क्या है

जो वहां के प्रसिद्ध कवि भी हिंदी साहित्य के युगपुरुष को न जानने का अपराध-बोध नहीं समझते। एतद् कल्लोल चक्रवर्ती को इसकी पड़ताल के लिए धन्यवाद। अनिल व्यास की 'भूख' कहानी मन को उद्वेलित करती रही, इस यथार्थ चित्रण के लिए लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। लीलाधर जगूड़ी से जोगेंद्र

आजकल का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं

मैं आपकी पत्रिका *----- का ☐ एक वर्ष (रु. 50)

☐ दो वर्ष (रु. 95) ☐ तीन वर्ष (रु. 135) का ग्राहक बनना चाहता हूँ.**

चंदे का रु. ----- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर -----

नाम :-----

पता :-----

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : बाल भारती, आजकल (उर्दू), कुरुक्षेत्र (हिंदी व अंग्रेजी), योजना (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)। प्रत्येक पत्रिका का चंदा:

एक वर्ष रु. 50.00, दो वर्ष रु. 95.00, तीन वर्ष रु. 135.00

विदेशों में

एक वर्ष : पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका 200 रुपये या 7 डालर;

शेष विश्व : 20 डालर या

600 रुपये

● कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर/ मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● किसी भी जानकारी के लिए लिखें: विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें। और यह फार्म भरकर : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लॉक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के नाम भेजें। टेलीफोन : (011) 6105590

सिंह की बातचीत बहुत सुलझी हुई लगी। सच ही तो है कि यदि आप पुरस्कार के लिए कोई रचना करते हैं तो इसकी पूरी संभावना है कि वह रचना महान नहीं होगी।

चंद्रदेव यादव का लेख 'लोककाव्य बिरहा' बहुत अच्छा रहा। वैसे कुछ और जानकारी की अपेक्षा थी।

—मनोज कुमार 'मनु',
इलाहाबाद

बहुत कुछ नहीं भी

● 'बंगला कविता का वर्तमान' पढ़ा कल्लोल चक्रवर्ती कुछ जानकारी देकर बहुत कुछ जानकारी नहीं दी। बंगला में एक महत्वपूर्ण पत्रिका *हंस*, *वागर्थ*, *आजकल*, *जनपथ* आदि की तरह देश पत्रिका भी प्रकाशित होती है जो साहित्यकारों को एक सोपान और आगे की ओर बढ़ाती है। इसका मतलब यह नहीं कि मैं सिर्फ पत्रिका की बात कर रहा हूँ, वरन् पत्रिका में प्रकाशित कई नामी-गिरामी लेखकों (जिसमें नवजात कवि से लेकर टैगोर व अनूदित कवियों तक) की कविताएं आती हैं। यहां नाम की संख्या बतलाना कठिनाई का काम है; क्योंकि आप संपादक महोदय चिट्ठियों को भी संपादित कर देते हैं। कई नाम छूट गए हैं। फिर बंगला कविता का

वर्तमान उक्त चंद नामों से हिंदी परी की तरह क्यों जोख लेते हैं? यह इलजाम नहीं है परंतु उन्होंने कई जानकारीएं ऐसी दी हैं जो आज के लिए तर्कसंगत हैं। कई नाम भी दिए हैं जो आदरपूर्वक लिए जा सकते हैं, जैसे— शक्ति चट्टोपाध्याय, समीर राय व घोष, जीवनानंद दास, अरुण मित्र, नीरेंद्रनाथ चक्रवर्ती, कविता सिंह, माइकेल मधुसूदन दत्त, नजरुल इस्लाम, सुकांत भट्टाचार्य, सुनील गंगोपाध्याय और रवींद्रनाथ ठाकुर। युवा कवित ताराचंद राय ने यह कविता डरकर नहीं लिखी कि—

सर बरांडे में थोड़ा खड़े
रहकर प्रतीक्षा कीजिए
दो लाइन लिख लेने दीजिए
थोड़ा लिख लेने दीजिए
आपके उत्पात से बहुत परेशान हूँ।

(1962, जीवनानंद दास)

यहां उत्पात के कई अर्थ लगाए जा सकते हैं। पूरी कविता पढ़ने से हमें यह लगता है कि आप भी निकट हैं और मैं भी। फिर आम लोगों ने जो जदोजहद की है उस उत्पात से मैं परेशान हूँ... और कवि का परेशान होना एक सुखद स्थिति है, डरने की प्रक्रिया नहीं। पाठकों को सही और गलत की जानकारी

निर्मम होकर देनी चाहिए, सहानुभूतिपूर्वक नहीं। पाठक तो पाठक होते हैं— अनपढ़ नहीं। कल्लोल चक्रवर्ती अपनी 'भाषा' कविता याद करें (*हंस* में)।

हां, लोककाव्य बिरहा से भिन्न हुआ। इसकी विशेष जानकारी चंद्रदेव यादव ने दी है। अभी भी फुटपाथों पर (आरा, पटना, बक्सर में) सुनने को मिल जाता है। लेकिन उनकी पूछ सिर्फ गांजा पीने वालों व कुछ आते-जाते जन से ही होती है और कुछ पैसे मिल जाते हैं। श्लाघनीय बात है कि कभी-कभी पटना आकाशवाणी से बिरहा प्रसारित होता है। बिरहा पर आपको विशेषांक निकालना चाहिए। कितना सहज, सरल व लोकप्रिय संगीत है। यह राष्ट्र की, संस्कृति की, प्रेम की व एकता की सुगंध है।

बर्तोल्त ब्रेख्त की कविताओं ने साहस नहीं बल्कि आत्मनिवेदन की स्फूर्ति प्रदान कर दी। इस महान कवि को बार-बार नमन!

पंडित नैनसिंह रावत को पढ़कर अच्छा लगा। पुस्तक का नाम *अक्षांश दर्पण* बहुत सुंदर लगा। यह पुस्तक कैसे उपलब्ध हो सकती है, कृपा कर पता बताएं।

लीलाधर जगूड़ी से

बातचीत ठीक लगी और नहीं भी। सच बोलने में आज भी साहित्यकार निर्मम नहीं हो रहे हैं। सिर्फ तर्क के द्वारा बातों का समाधान निकाल लेते हैं। आजकल तीन शब्द धड़ल्ले से चल रहे हैं— समकालीन, जनवादी, प्रगतिशील। इन तीनों शब्द का ताना-बाना बुनने का प्रयास चल रहा है और फिर एक शब्द की खोज है जो नहीं मिलने के कारण साहित्यकार दुखी हैं। या तो फिर उसी लीक को पकड़े उदासी, और ऊब महसूस कर रहे हैं। इसका मतलब यह नहीं कि इन शब्द से मुझे घृणा है बल्कि प्रेम है। पुरस्कार भारत में वरिष्ठों को नहीं, बल्कि एकदम नए साहित्यकार को और एकदम बुजुर्ग (शुरीदार) साहित्यकारों को देने चाहिए।

—अरुण शीतांश, आरा

जड़ों से जुड़ने की ललक

● परंपरा के अंतर्गत 'तलाश जड़ों की' पढ़कर अनेक जिज्ञासाओं की निवृत्ति हुई जिसमें मारीशस एवं ट्रिनिडाड-टोबैगो आदि मुख्य हैं। इन देशों के प्रवासी भारतीय सत्ताशीर्ष पर पहुंचकर अपने मूल के प्रति आकृष्ट हुए और अपने विछुड़े परिजनों से मिले। अपने मूल के प्रति

सहज लगाव मानव प्रवृत्ति होती है। विशालतम वृक्ष क्यों न हो, वह तभी तक हरा-भरा रहता है जब तक मूल से जुड़ा रहता है। मूल से अलग होते ही उसकी विशालता विलीन होने लगती है। इसी परंपरा को स्थापित रखने की ललक प्रवासी भारतीयों को अपनी गुम पहचान के आलोक में अपने मूल से जुड़ने को प्रेरित करती है। इस क्रम में ट्रिनिडाड-टोबैगो के प्रधानमंत्री वासुदेव पांडेय उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जनपद के गांव लखमनपुर में अपने ननिहाल में ममेरे भाई निरहू यादव से सपरिवार मिलकर भावविह्वल हो गए तथा मारीशस के राष्ट्रपति कासिम उतीन भी इसी जनपद के अपने दादा के गांव दुभाव में अपने परिवारजनों से मिलकर गद्गद हुए। मारीशस के ही प्रधानमंत्री बने अनिरुद्ध जगन्नाथ जिनके पूर्वज जगन्नाथ यादव जो बिहार के अमर स्वतंत्रता सेनानी कुंवर सिंह के द्वितीय सेनापति थे, आरा जिले के फूलवा गांव के थे। जिन्हें अंग्रेजों ने दरबंद कर दिया, ये गिरमिटिया मजदूर बनकर मारीशस पहुंचे। उन्हीं की पांचवीं पीढ़ी में अनिरुद्ध जगन्नाथ थे।

-चंद्रकांत यादव, वाराणसी

बिरहा की लोकप्रियता

- 'लोकसाहित्य' के अंतर्गत लोककाव्य बिरहा पर चंद्रदेव यादव सम्यक प्रकाश डालने में सफल रहे। निश्चय ही कृष्ण के विरह में गोप-यादवों द्वारा गाए विरह-गीत विरहा के रूप में अनेक उतार-चढ़ाव झेल रहे हैं। आज के उपग्रह चैनलों के माध्यम से पश्चिमी संस्कृति के आक्रमण के बाद भी लोक गायन की यह शैली बिरहा देश के करोड़ों लोगों के लिए मनोरंजन एवं जानकारी का सशक्त माध्यम बनी हुई है। आज सभी जाति वर्गों, में यह काव्य विद्या लोकप्रियता प्राप्त कर रही है और इस काव्य विधा का गानों के रूप में भविष्य उज्ज्वल है।

-सुकन्या यादव, वाराणसी

लोक-साहित्य का पक्षधर

- आजकल अपने प्रकाशन के प्रारंभ से ही लोक-साहित्य का पक्षधर रहा है। देवेंद्र सत्यार्थी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन और वनारसीदास चतुर्वेदी जी का अवदान स्तुत्य रहा है। इस अंक में भी लोककाव्य विरहा पर अच्छी सामग्री दी गई है। पद्मश्री विंध्यावासिनी देवी जी मूलतः जनभाषा की लोक गायिका हैं

और भोजपुरी को भी उन्होंने सहारा दिया है। इकबाल सिंह 'राकेश' ने भी लोककाव्य विरहा पर कलम उठाई थी। लीलाधर जगूड़ी का साक्षात्कार भी पठनीय है। श्रीराम त्रिपाठी की कविताएं मर्म को छूती हैं।

-श्रीरंग शाही, मुजफ्फरपुर

बिलवासी रुश्दी और हिंदी

- अंक में रमेशचंद्र झा (दरभंगा), नीलाध (इलाहाबाद), श्रीकांत रिंग विदिशा की पत्र-प्रतिक्रिया ने प्रभावित किया। यह भारत का मांभाग्य है या दुर्भाग्य कि चार्ल्स शांभराज, दाऊद इब्राहीम, सलमान रुश्दी जैसी अंतर्राष्ट्रीय हस्तियां जन्म से कहीं न कहीं अपने को भारत से जोड़ लेती हैं, जबकि भारत और भारतीयता से उनका कोई नाता नहीं है।

रुश्दी ने नाम अर्जित करने का एक अपराधिक तरीका ईजाद किया-शैतान की उक्तियां सेंटनिक वर्सेज लिखकर। उन्हें बड़ा आदमी बनाने में ईरान के राष्ट्रपति खोमैनी साहब का बड़ा हाथ माना जाता है। यदि इनके विरुद्ध का फतवा वह नहीं देते तो इस पुस्तक के कारण रुश्दी को कोई यश नहीं

मिलता और न पश्चिमी देश उनकी सुरक्षा और उस पुस्तक की बिक्री से धन कमाने का धंधा करते। पाश्चात्य यूरोप, अमेरिका की यह मजबूरी है कि वे उन कूड़ा-करकटों को भी एक बार बाजार दे देते हैं, जिनमें पूरब के स्थापित संस्कारों विचारों का विरोध हो और पूंजीवादी खुलेपन को कोई राह मिल सके। इसलिए रुश्दी साहब 'हिंदी साहित्य को अंग्रेजी का अनुसरण' और 'आजादी के बाद कुछ लिखा नहीं गया' जैसा फतवा बीच-बीच में देते रहते हैं ताकि 'न्यूज' में बने रहें। उन्होंने भारत के दो-तीन लेखकों को अंतर्राष्ट्रीय माना है, जिनमें एक विक्रम सेठ जिन्होंने-'प्रेमी लौंडा' लवर बाय लिखकर पैसा कमाया; दूसरी अरुंधती राय और तीसरे वह खुद हैं। सब से अधिक दूरदृष्टि संपन्न रुश्दी मियां इसलिए हैं कि प्राणभय से आधी जिंदगी उन्होंने बिलों में काट दी है, और शेष भी...। दुनिया जहान, जीवन की वास्तविकता से उनका परिचय एकदम नहीं है। हिंदी क्या, उन्हें तो उर्दू भी ठीक से नहीं आती है। तब 'हिंदी साहित्य में 50 वर्षों में कुछ ऐसी चीजें लिखी नहीं गईं, जिसका अंतर्राष्ट्रीय मूल्य हो', ऐसी

पृष्ठ 48 पर जारी

अभी और लिखना चाहता हूँ मैं

वरिष्ठ साहित्यकार विष्णु प्रभाकर से महेश दर्पण की बातचीत

यह आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की सातवीं तिथि थी, विक्रम संवत् 2055 -यानी 1 जुलाई, 1998 की सुबह। वही तख्त। वही कमरा। लिखने की वही चौकी। लेकिन अब बोलकर लिखाते हैं विष्णु प्रभाकर। उनकी सहयोगी मिठाई लेकर आई है। भारतीय तिथि के हिसाब से यह विष्णु जी का जन्मदिन होता है। अंग्रेजी तिथि से वह 21 जून को मना ही चुके हैं। मुझे देखकर एकदम प्रफुल्लित हो आते हैं- “लो, मिठाई खाओ!” फिर यह जानकर कि अंग्रेजी तिथि के हिसाब से मेरा भी जन्मदिन 1 जुलाई को है, वह कहते हैं- “फिर तो आपको दो खाने चाहिए।”

श्रीमती प्रभाकर की आत्मीय छवि प्रेम के भीतर से दीवार पर टंगी मुस्करा रही है। कभी वह होती थीं तो इस कमरे की रौनक ही कुछ और थी। अब वह नहीं, लेकिन घर में वही परंपरा चली आ रही है जिसे उन्होंने पूरे श्रम से साधा होगा।

कुछ ढल गए हैं, लेकिन मौसम ठीक-ठाक हो तो अब भी शाम को काफी हाउस जाने से खुद को रोक नहीं पाते विष्णु जी। उन्हें मालूम है, पुरानी से पुरानी और नई से नई किताब रखी कहां है! सुबह छह बजे तैयार होकर तख्त पर आ विराजते हैं और दोपहर भोजन से पूर्व तक काम करते रहते हैं।

बातें होती हैं तो जैसे एक पूरा जमाना आंखों से होकर गुजरने लगता है। उपलब्धि का आत्मगौरव है तो क्रमशः खराब होते जा रहे समय का दर्द भी। संवाद करने वाला उनका आत्मीय हो तो वह कितनी भी देर निरंतर बातचीत करते रह सकते हैं।

बातें हैं, एक के भीतर एक परतें लिए। बस थोड़ा धैर्य चाहिए कि आप उन्हें समझ सकें। हिंदी के वरिष्ठतम कथाकार विष्णु प्रभाकर से इस तरह हुआ संवाद :

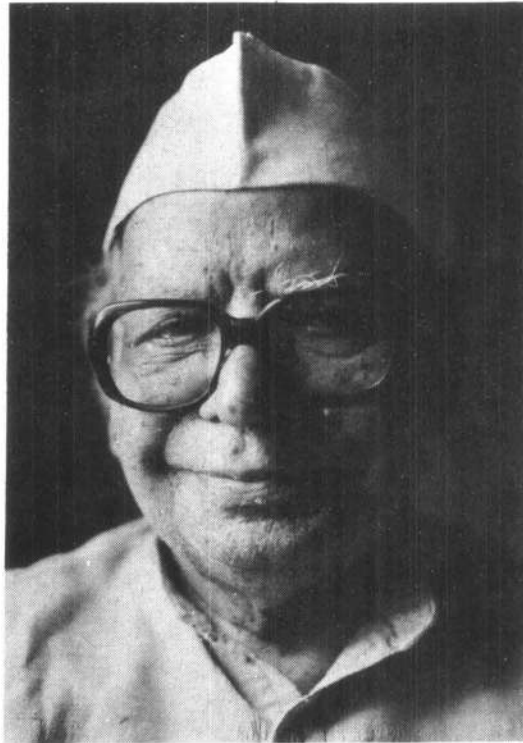
प्रश्न : आपने सबसे पहले कविताएं लिखीं और फिर कथा-लेखन की ओर आ गए। कविता से फिर नाता जोड़ने का मन कभी हुआ या नहीं !

उत्तर : कविताएं शुरू में आर्य समाज के प्रभाव में आकर लिखी थीं। कविताएं लिखना मैंने 33-34 में ही छोड़ दिया था। लेकिन बाद में यदा-कदा लिखी 30-40 कविताएं रखी हुई हैं। कभी विप्लव में गद्यकाव्य 'ओ घास वाली' लिखा था। कविता,

मुझे लगा, मेरी विधा नहीं है। कभी-कभार लोग ग्रीटिंग कार्ड भेज देते हैं तो मैं शुभकामना स्वरूप उन्हें कविता लिख भेजता हूँ। विधिवत फिर इस विधा में काम करने का मन नहीं हुआ।

पहली कहानी आपने कब लिखी ? यह कहां प्रकाशित हुई?

पहली कहानी थी 'दीवाली के दिन'। आर्य समाज का तब मुझ पर प्रभाव था। इस कहानी में घर का मालिक शराबी है। दीवाली के दिन घर पर बच्चे और पत्नी उसकी प्रतीक्षा में बैठे हैं कि वह आए तो दीवाली मनाई जाए। लेकिन पति शराब में धुत्त घर के दरवाजे पर आ गिरता है। यह कहानी हिंदी मिलाप में नवंबर 1931 में प्रकाशित हुई थी। तब मैं 'प्रेमबंधु' के नाम से लिखता था। सरकारी नौकर था।



विष्णु प्रभाकर

फोटो : धर्मवीर जयनर

कहानी को आप प्रमुख विधा मानते हैं। इसके लिए आपके तर्क क्या हैं?

देखिए, और विधाएं भी कहानी पर ही आधारित हैं। नाटक भी तो मंच से कही गई कहानी ही है। मेरे कई संस्मरण भी कहानी की तरह हैं। 'चाची' और 'पर्वत से भी ऊंचा' स्केच हैं, लेकिन कहानी की तरह उन्हें आप पढ़ सकते हैं। उपन्यास में कहानी कुछ और विशद रूप धारण कर कई धाराओं में बहती है। अकहानी का आंदोलन चल इसीलिए नहीं पाया कि उसमें कहानी के लिए जगह नहीं थी।

1936 में प्रकाशित आपकी कहानी 'संघर्ष के बाद' में जो पारिवारिक स्थितियां हैं, उनसे आज की पारिवारिक स्थितियों की तुलना करने पर आप क्या पाते हैं? ऐसा नहीं लगता कि समाज की यह महत्वपूर्ण इकाई (परिवार) विघटन की वजह से बिखराव के कगार पर है !

हमारा समाज पहले कृषि समाज था। इस समाज में मिलकर बैठना होता है। वर्ण व्यवस्था यहीं से निकलती है। रक्षा करने वाले क्षत्रिय हो गए, ब्राह्मण तो थे ही, खेती-बाड़ी करने वाले और अनाज बेचने वाले वैश्य हो गए। औजार, हथियार, यंत्र बनाने वाले शूद्र होते थे। छूत-छात का तब कोई कंसेप्ट था ही नहीं। लेकिन औद्योगिक युग में मिलकर बैठने का कोई सवाल ही नहीं। परिवार तो बिखरेगा ही। अब तो मिलकर रहने की स्थितियां ही नहीं हैं। दिल्ली के कुछ घरों में सिर्फ बूढ़े-बुढ़िया ही मिलेंगे। यह स्वाभाविक विकास है। अब यह महसूस होने लगा है कि परिवार में पति-पत्नी के अलावा भी कोई होना चाहिए।

'धरती अब भी घूम रही है' जैसी कहानी लिखने की प्रेरणा आपको कैसे मिली? इस कहानी के नीना और कमल कहीं काल्पनिक तो नहीं थे?

मेरे पास उस जमाने में बहुत सारे लोग आया करते थे। यहां अच्छा फर्श था। रघुवीर सहाय, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव..सब आया करते थे। बातचीत में कभी किसी ने कहा कि रिश्वत लड़की के रूप में भी ली जाती है। बातचीत हमारी भतीजी भी सुन रही थी। उसने बाद में मुझसे पूछा—“ताऊजी, ये बड़े लोग लड़की की रिश्वत का करते क्या हैं?”

यह वाक्य ही उस कहानी की प्रेरणा है। मैंने बच्चों से बहुत-कुछ सीखा है।

जिस दौर में आपका कथा-लेखन प्रारंभ हुआ, आपके पसंदीदा कथाकार कौन से थे?

तब समय बहुत अच्छा था। जैनेंद्र थे, वात्स्यायन और विद्यालंकार (चंद्रगुप्त) थे। यशपाल तो थोड़ा बाद में आए। प्रेमचंद जी सबसे पहले। उनसे मेरा पत्र-व्यवहार था। उन्होंने लिखा था—“तुम्हारी कहानी में संवाद नहीं होता।” फिर उनके लिखे का ऐसा असर हुआ कि संवाद ही अधिक होने लगे।

अशक भी थे। मैं तो सभी का आदर करता था। सभी ने मुझे लेखन संबंधी सलाह दी। लाहौर से अलंकार निकला था। विद्यालंकार जी उसके साहित्य संपादक थे। हंस में मैंने रेगुलर लिखा। कभी जैनेंद्र जी ने लिखा था— तुम्हारी कहानी की गहराई देखकर मुझे ईर्ष्या होती है।

सरकारी नौकरी क्यों छोड़ देनी पड़ी थी आपको?

सात बरस की उम्र से मैंने गांधीजी की उंगली पकड़ी थी। आज तक यह छोड़ी नहीं है। सरकारी नौकरी मुझे मजबूरी में करनी पड़ी थी। 1925-26 के प्लेग में हमारा परिवार नष्ट हो गया। पिताजी तो हमारे भगत थे। आमदनी उनकी बहुत थोड़ी थी। दुकानें हमारी बिकने को हो गईं। भाई साहब कालेज चले गए थे। मामाजी ने मुझसे कहा— कांग्रेस छोड़ दो, नौकरी करो। लेकिन मैं नौकरी के साथ-साथ कांग्रेस का काम भी करता रहा। भाषण देने लगा। ड्रामा कंपनी खोली। ब्रिटिश सरकार के खिलाफ नाटक खेले। 6 जून 1940 को सुबह तीन बजे मुझे गिरफ्तार कर लिया गया।



विष्णु प्रभाकर परिवार के बच्चों के साथ

फोटो : धर्मवीर जयनर

मजे की बात यह थी कि सी.आई.डी. वाला सात दिन पहले ही बता गया था। सो मैंने अपने जरूरी कागजात और आपत्तिजनक दस्तावेज एक परिचित के यहां रखवा दिए। दुर्भाग्य यह हुआ कि उन्होंने डर के मारे वे सारे कागजात जला दिए। उन कागजों में मेरी उन दिनों की डायरी बड़ी महत्वपूर्ण थी। नौकरी तो छूटनी ही थी।

इतने कहानी आंदोलनों को आंखों के सामने बनता-सिमटता देखकर भी आप किसी के साथ नहीं हो पाए. क्यों?

मैं प्रभावित हुआ था प्रगतिशील आंदोलन से। यहां शिवदान सिंह चौहान और मैं प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक सदस्यों में से थे। इसके लिए भी मैंने गांधीजी से इजाजत ले ली थी। लेकिन जब हंसराज रहबर आए तो उन्होंने हम लोगों को निकाल दिया जबकि सज्जाद ज़हीर ऐसा नहीं कहते थे कि प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य होने के लिए कम्युनिस्ट होना जरूरी था।

1942 में मैंने आर्य समाज से बकायदा इस्तीफा दिया था, लेकिन कांग्रेस से मैं बराबर जुड़ा रहा। बाद के आंदोलनों की बात दूसरी है। उस दौर में तो हम 'बंज्मे अदब' में जाया करते थे और उर्दू अदीबों के बीच अपनी रचनाएं पढ़ा करते थे। कभी 'बंज्मे अदब' वाले हमारे 'शनिवारी समाज' में आया करते थे। दोनों भाषाओं के लोग खूब मिलते थे। लेकिन यह देखने में आया कि उर्दू वालों के दिमाग में यह बैठ गया था कि हिंदी में कहानी कोई नहीं लिख सकता।

तीसरे दशक में, जब आप कहानियां खूब लिख रहे थे, अपने सबसे ज्यादा करीब कौन लगता था?

मेरी प्रारंभिक कहानियों पर शरत का प्रभाव स्पष्ट रूप से है। हालांकि पहला संग्रह मैंने प्रेमचंद को समर्पित किया था। भाषा पर जैनेंद्र जी का प्रभाव भी रहा। लोग तो मुझे छोटा जैनेंद्र कहने ही लगे थे। मेरी भाषा के संदर्भ में अज्ञेय ने लिखा- इसे बदलो।

हम जब सामने आए तो प्रेमचंद, प्रसाद के बाद चतुरसेन शास्त्री को ही नहीं, भगवती प्रसाद वाजपेयी को भी खूब पढ़ चुके थे। हम सब लोग मिलते थे...अशक, यशपाल, उषादेवी मित्रा ... सभी। स्नेह की डोर बंधी रहती थी। जैनेंद्र ने एक रोज कहा था- तुम्हारी जिज्ञासा मरती जा रही है।

यह वह समय था जब मैं प्रगतिशील प्रभाव की रचनाएं लिख रहा था। वह माहौल बड़ा आत्मीय था। आज तो नफरत करने वाले बहुत बढ़ गए हैं।

इधर आपका कहानीकार कुछ कम-सा हो गया है। कहीं इसकी वजह आत्मकथा लेखन तो नहीं?

लेखन थमा नहीं है। उपन्यास दिमाग में है। कुछ कहानियां

भी हैं। योजना यह बनाई कि पहले कुछ संस्मरण लिखूंगा। आत्मकथा मैंने 1980 तक, पत्नी के निधन तक ही लिखी है। 'मेरे काफी हाउस' शीर्षक से तीन किताबें लिखना चाहता हूं। 'साहित्य अकादमी के दस वर्ष' शीर्षक से भी एक योजना है।

आवारा मसीहा से मिली ख्याति ने आपको खासा नुकसान भी पहुंचाया है। सुपसिद्ध जीवनीकार के बैंकेट से बाहर निकलने के लिए आपका संघर्ष बहुत लंबा खिंच बना।

अब देखिए, कहानियां मेरी और भी हैं, लेकिन चर्चा सिर्फ 'धरती अब भी घूम रही है' की होती है। *आवारा मसीहा* के लिए मैंने मेहनत भी खूब की थी। बंगाली इसी वजह से मुझे बहुत प्यार करते हैं। यह सही है कि इसकी ख्याति ने मेरे रचनाकार की पहचान को भी सीमित कर दिया।

मिशिकांत, कोई तो या अर्द्धनारीश्वर पर चर्चाएं तो हर तरह की हुई हैं, लेकिन आपको संतुष्टि किस उपन्यास को लिखकर हुई?

संतुष्टि तो, जो अब लिखना चाहता हूं, उसे लिखकर ही होगी। मैंने 'दावानल' की घोषणा की थी। *कोई तो* की चर्चा हुई और *अर्द्धनारीश्वर* में मैंने रेप के संदर्भ में यह लिखा कि इसमें नारी का कोई अपराध नहीं होता फिर भी वह कलंकित हो जाती है। दरअसल, हम डिसपैरिटी आफ सेक्स को समझ ही नहीं पाए हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण चीज है। सेक्स तो ऊर्जा है। सृष्टि का आधार है। इसे गंदा काम कहना ठीक नहीं। शरत ने कहा था- सतीत्व और नारीत्व एक नहीं होते।

लिखना तो मैं बहुत चाहता हूं, लेकिन दिल्ली में रहकर लिखना कम हो पाता है। मेरा नाटक अधूरा पड़ा है।

विभाजन की त्रासदी को आपने करीब से देखा है। क्या आपको लगता है कि आज भी भारत कई अर्थों में उसी संघर्ष से जूझ रहा है!

बिल्कुल लगता है। सच कहूं, तो विभाजन से हमने कोई सीख नहीं ली। तब बहुत-से लोग तो भागकर आए, बहुतों ने अपने पड़ोसियों को ही लूट लिया। अपनी ही बिरादरी के शरणार्थी होकर आए लोगों की यहां के लोगों की मदद नहीं की। तो एक फांक पड़ गई। अब तो हालात बड़े नाजुक हैं।

अनुभवों अरे इस बड़े जीवन में, इस मोड़ पर आकर कभी तमाम चीजों का मूल्यांकन करने का मन तो होता होगा! क्या खोया, क्या पाया अब तक?

करता भी हूं। लिखना चाहता हूं। लगता है, कभी-कभी कि हर समर्थ से सीधे परिचय के बावजूद मुझे सहायता कहीं से नहीं मिली। मेरा मकान तक कब्जा लिया गया, लेकिन किसी ने कुछ करके नहीं दिया। इतना लिखने के बाद भी बंशुकल एक लाख पच्चीस (कभी दस हजार) रायल्टी हो पाती है। डाकखर्च बहुत बढ़ गया है। □

एक अविराम सृजन-यात्रा

आत्मकथा के बारे में विष्णु प्रभाकर का मानना है कि 'आत्मकथा लिखना बहुत मुश्किल काम है। कोई लिख नहीं सकता। मैं लिखूँ, मान लीजिए, और अपने आप को एक्सपोजर दूँ, तो मेरे साथ जो दूसरे हैं, वे भी एक्सपोजर होंगे। मैं यह गवारा नहीं कर सकता। ऐसे मैं, जो लिखा गया है वह तो सामने आ जाएगा, लेकिन जो नहीं लिखा गया है वह सोते-जागते, उठते-बैठते, आते-जाते, हर जगह चिंतन का विषय बना रहता है। एक लेखक के जीवन में कितना कुछ घटता है, सब कौन खोलता है!' उम्र के नवें दशक के उत्तरार्द्ध में चल रहे विष्णु जी की सृजन-यात्रा जारी है। उनकी दिनचर्या का अंतरंग परिचय दे रहे हैं महेश दर्पण

उम्र के नवें दशक के उत्तरार्द्ध में इंसान सोते-सोते भी जागता ही रहता है। लगभग यही स्थिति है विष्णु जी की भी। आमतौर से, जब दिल्ली में होते हैं, तो सुबह पांच बजे उठ जाते हैं। कभी-कभी चार-साढ़े चार बजे ही उठ बैठते हैं। रात की नींद बहुत डिस्टर्ब रहती है— "हर दो घंटे बाद पेशाब जाने की जरूरत महसूस होती है, और लौटता हूँ तो फिर नींद गायब! और जब फिर देर तक नींद नहीं आती तो गोली खाकर सोने की चेष्टा करता हूँ।"

नींद न आए तो अपनी बीती जिंदगी के बीहड़ सफर के बारे में सोचना कैसा लगता होगा *आवारा मसीहा* के इस सर्जक को? मैं सोचता हूँ और वह 'एक दिशाहीन सफर' के बारे में बातें करने लगते हैं। बताते हैं : "आजकल इसी के बारे में सोचता रहता हूँ। (ये विष्णु प्रभाकर के आत्म-संस्मरण हैं, इन्हें वह आत्मकथा नहीं कहते) आत्म-संस्मरण पहले *वीणा* में धारावाहिक प्रकाशित हुए। अब पुस्तक रूप में आएंगे। आत्मकथा लिखना बहुत मुश्किल काम है। कोई लिख नहीं सकता। मैं लिखूँ, मान लीजिए, और अपने आप को एक्सपोजर दूँ, तो मेरे साथ जो दूसरे हैं, वे भी एक्सपोजर होंगे। मैं यह गवारा नहीं कर सकता। ऐसे मैं, जो लिखा गया है वह तो सामने आ जाएगा, लेकिन जो नहीं लिखा

गया है वह सोते-जागते, उठते-बैठते, आते-जाते, हर जगह चिंतन का विषय बना रहता है। एक लेखक के जीवन में कितना कुछ घटता है, सब कौन खोलता है!"

अब विष्णु जी का स्वास्थ्य उतना ठीक नहीं रहता कि थैला टांग, अपनी पहचान बनी पोशाक में (कुर्ता, पाजामा, वास्कट और गांधी टोपी) घूमने निकल जाएं। ब्लडप्रेसर बहुत ज्यादा रहता है।

सुबह के वक्त चौकी जम जाती है तो फिर दो बजे तक निरंतर काम होता रहता है।



विष्णु प्रभाकर

फोटो : धर्मवीर जयनर

एक सहायिका आती है जो विष्णु जी का सारा काम करती है। आजकल आत्मसंस्मरण के एक और भाग को देखने की तैयारी चल रही है। वह बताते हैं— "पत्र बहुत आते हैं। इनमें मित्रों के अतिरिक्त पाठकों, शोधार्थियों, संस्थाओं और प्रकाशकों के पत्र अधिक होते हैं। इन सबका जवाब बोलकर लिखवाता हूँ। इधर एक काम *होरी* नाटक को दुबारा से लिखने का कर रहा हूँ। कभी 'इप्ता' ने इसे खूब खेला था। ए.के. हंगल और रोहिणी हट्टंगणी ने इस नाटक के लिए भूमिकाएं कीं। बल्कि हंगल से तो किसी साक्षात्कार में जब पूछा गया कि आपको अब तक किस भूमिका में सर्वाधिक संतुष्टि

विष्णु प्रभाकर का रचना संसार

अलका पांडे

कथाकार विष्णु प्रभाकर पहले-पहल 'विष्णु' नाम से ही लेखन करते थे। बाद में 'प्रभाकर' भी जुड़ गया। राय कृष्णदास द्वारा संपादित संग्रह में भी उनकी कहानी 'श्री विष्णु' के नाम सहित प्रकाशित हुई थी। विष्णु जी का जन्म 21 जून, 1912 को उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जिले के एक गांव में हुआ, लेकिन बाल्यकाल हरियाणा में गुजरा। वहीं पढ़ाई हुई और फिर सरकारी नौकरी के साथ-साथ कांग्रेस का काम करने लगे। मौलिक लेखन के अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर 60 से अधिक पुस्तकों का संपादन भी कर चुके हैं। पहला कहानी संग्रह *आदि और अंत* सन् 1945 में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद क्रमशः *रहमान का बेटा* (1947), *जिंदगी के थपेड़े* (1952), *संघर्ष के बाद* (1952), *सफर के साथी* (1960), *खंडित पूजा* (1960), *सांचे और कला* (1952), *मेरी तेतीस कहानियां* (1967), *धरती अब भी घूम रही है* (1970), *मेरी प्रिय कहानियां* (1970), *पुल टूटने से पहले* (1977), *मेरा वतन* (1980), *खिलौने* (1981), *मेरी लोकप्रिय कहानियां* (1982), *इक्यावन कहानियां* (1983), *मेरी कथायात्रा* (1984), *एक और कुंती* (1985), *जिंदगी एक रिहर्सल* (1986), *एक आसमान के नीचे* (1989), *मेरी प्रेम कहानियां* (1991), *चर्चित कहानियां* (1993), *कफ़्यू और आदमी* (1994), *दस कहानियां* (1994) कहानी संग्रह आए।

विष्णु प्रभाकर का पहला उपन्यास *ढलती रात* 1951 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद क्रमशः आए *निशिकांत* (1955), *तट के बंधन* (1955), *स्वप्नमयी* (1956), *दर्पण का व्यक्ति और परछाईं* (1968), *कोई तो* (1980), *अर्धनारीश्वर* (1992), *संकल्प* (1993)। पहला लघुकथा संग्रह 1982 में *आपकी कृपा है शीर्षक* से छपा और दूसरा 1989 में *कौन जीता कौन हारा*। पहला नाटक *नव प्रभात* 1951 में प्रकाशित हुआ और फिर क्रमशः *समाधि* (1952), *गांधार की भिक्षुणी* (1982), (ये दोनों एक ही नाटक के अलग-अलग शीर्षक हैं), *डाक्टर* (1961), *युगे-युगे क्रांति* (1969), *टूटते परिवेश* (1974), *कुहासा और किरण* (1975), *टगर* (1977), *बंदिनी* (1979), *सत्ता के आर-पार* (1981), *अब और नहीं* (1981), *श्वेत कमल* (1984), *केरल का क्रांतिकारी* (1987) सहित



युवा विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर के संपूर्ण नाटक भी प्रकाशित हो चुका है। विष्णु जी ने प्रेमचंद के उपन्यास *गबन* का नाट्य रूपांतर *चंद्रहार* शीर्षक से किया जो 1952 में प्रकाशित हुआ। *होरी* (1955) और *सुनंदा* (1984) दो अन्य रूपांतर हैं। एकांकी लेखन में भी विष्णु जी का मन खूब रमा है। उनका पहला एकांकी संग्रह *इंसान और अन्य एकांकी* सन् 1947 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद क्रमशः *क्या वह दोषी था?* (1951), *अशांक तथा अन्य एकांकी* (1956), *प्रकाश और परछाईं* (1956), *बारह एकांकी* (1958), *दस बजे रात* (1959), *ये रेखाएं, ये दायरे* (1963), *ऊंचा पर्वत, गहरा सागर* (1966), *तीसरा आदमी* (1974), *नए एकांकी* (1976) और *स्वाधीनता संग्राम* (छह रूपक) 1958 में प्रकाशित हुआ।

अनुवाद का काम तो विष्णु जी ने किया ही, जीवनी लेखक के रूप में सर्वाधिक ख्याति पाई। *आवारा मसीहा* शरतचंद्र के जीवन पर आधारित का प्रकाशन सन् 1974 में हुआ। *अमर शहीद भगतसिंह* (1976), *सरदार वल्लभभाई पटेल* (1976)। संस्मरणकार विष्णु प्रभाकर का एक अलग ही रूप है। *जाने अनजाने* (1961), *कुछ शब्द कुछ रेखाएं* (1965), *यादों की तीर्थयात्रा* (1981), *शुचि स्मिता* (1982), *मेरे अग्रेज मेरे मीत* (1983), *समांतर रेखाएं* (1984), *हम इनके ऋणी हैं* (1984), *मेरे हमसफर* (1985), *राह चलते-चलते* (1985), *काका कालेलकर* (1985), *दयानंद सरस्वती* (1989), *सृजन के सेतु* (1990), *हमारे पथ प्रदर्शक* (1991), *विश्वप्रसिद्ध संपूर्ण लघु जीवनियां* (1991), *स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती* (1993), *शब्द और रेखाएं* (1989)। यात्रा वृत्तांत लेखन से संबंधित प्रकाशन 1964 में प्रारंभ हुआ जब *जमना गंगा के नैहर में* प्रकाशित हुई। *अभियान और यात्राएं* (संपा.) 1964

में, *हंसते निर्झर दहकती भट्टी* (1966), *हिम शिखरों की छाया में* (1981), *ज्योतिपुंज हिमालय* (1982) सरीखे वृत्तांत सामने आए। विचार-निबंध लेखन में *जन समाज और संस्कृति : एक समग्र दृष्टि, क्या खोया क्या पाया, कलाकार का सत्य* प्रकाशित हो चुके हैं। बाल-साहित्य के लिए भी उन्होंने दस से अधिक किताबें लिखी हैं। नाटक, जीवनियां, सरल पंचतंत्र और अनेक कथा पुस्तकें भी इनके अतिरिक्त हैं। विष्णु प्रभाकर पर अब तक अनेक शोधकार्यों के अलावा *विष्णु प्रभाकर : व्यक्ति और साहित्य* (सं. : महीप सिंह), *लोकायती वैष्णव विष्णु प्रभाकर* (डा. धर्मवीर), *साहित्य में भारतीय अस्मिता के प्रतीकः विष्णु प्रभाकर* (सं. : धर्मेन्द्र गुप्त), *विष्णु प्रभाकर* (सं. : डा. विश्वनाथ मिश्र व डा. कृष्णचंद्र गुप्त) *आवारा मसीहा : सृजन और मूल्यांकन* सरीखी पुस्तकें आ चुकी हैं। □

मिली? तो उनका जवाब था : 'होरी' में होरी की भूमिका करके मुझे सबसे ज्यादा संतुष्टि मिली।''

काम करते-करते स्मृतियों के बीहड़ में जा पहुंचना विष्णु जी की आदत है। बताते हैं- '' 'धरती अब भी घूम रही है' की याद हो आई। यह कहानी विशेषांक 1955 में प्रकाशित हुई थी। घूमा बहुत हूं न, सभी प्रांतों में। मेरे साथ इन सबकी स्मृतियों का बने रहना भी तो है! किसी चीज को देखकर अचानक बहुत पहले देखा, सुना, भोगा, कुछ याद हो ही आता है। बैठे-बैठे सोचता रहता हूं कि सन् 1857 की भूमिका पर किसी ने ढंग से ध्यान नहीं दिया। कभी लगता है कि मिथक कथाओं को हू-ब-हू उठाकर क्यों रख दिया जाता है? इनके पीछे का सच तलाश करने की कोशिश क्यों नहीं करता कोई!''

विष्णु जी के पास रोजमर्रा इतनी डाक आती है कि वह अपने को भरा-पूरा महसूस करते हैं। एक-एक पत्र को पढ़ना, उसका जवाब लिखवाना, जरूरी समझते हैं। प्रतिदिन 25 पत्र तो लिखवा ही देते हैं। जो लिखवाते हैं, उनमें महत्वपूर्ण पत्रों का रिकार्ड भी उनके पास रहता है। सहायिका न आ सके तो खुद भी लिख डालते हैं।

दोपहर के दो बजे और विष्णु जी काम पर से उठे। बहुत महत्वपूर्ण काम चल रहा हो तो तीन बजे तक भी बैठ जाते हैं। अब भोजन का समय है। भोजन के बाद विश्राम होगा। शाम चार बजे के बाद चाय चाहिए। फिर कुछ वक्त लिखा-पढ़ी होगी और ठीक पांच बजे ट्रांजिस्टर पर खबरें सुनी जाएंगी। यह अपने आप को समय और उसके प्रवाह के साथ जोड़े रखने के लिए जरूरी मानते हैं विष्णु जी।

खबरें सुनने के बाद का समय काफी हाउस जाने की तैयारी का होता है। वर्षों तक वह कुंडेवाला न, अजमेरी गेट स्थित अपने घर से मोहन सिंह पैलेस स्थित काफी हाउस तक पैदल ही आते-जाते रहे। लेकिन अब न वह उम्र रही और न सड़कों में किसी बुजुर्ग पदातीय के लिए उस तरह की बेफिक्र गुंजाइश। अब वह अक्सर, स्वास्थ्य ठीक होने पर ही काफी हाउस जाते हैं, और वह भी स्कूटर पर। स्कूटर वाले जब बेजा पैसे मांगते हैं तो विष्णु जी उन्हें बताते हैं- ''जब स्कूटर नहीं थे इन सड़कों पर, तब से मैं आ-जा रहा हूं!''

काफी हाउस पहुंचकर विष्णु प्रभाकर कुछ और उन्मुक्त हो जाते हैं। जो सामने बैठे होते हैं वे सोच रहे होते हैं कि विष्णु जी उनसे बतिया रहे हैं, लेकिन वह साथ के उन लोगों से भी मन-ही-मन बतिया रहे होते हैं जो गुजर चुके हैं। इनमें उनके बुजुर्ग भी हैं, समकालीन भी, और काल के गाल में जा चुके उनसे कुछ कम उम्र भी। यह इतनी लंबी फेहरिस्त है कि इसे शायद वह खुद भी पूरा न बता पाएं। फिर भी कुछ नाम इस तरह लिए जा सकते हैं जिन्हें

बाकायदा उन्होंने संस्मरण लिखकर याद किया है-इलाचंद्र जोशी, उदयशंकर भट्ट, कामिल बुल्के, गुरुदयाल मल्लिक, काका साहब गाडगिल, चंद्रबली पांडे, मोहन सिंह सेंगर, यशपाल, राधाकृष्ण, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', हजारी प्रसाद द्विवेदी, रघुवीर, सियाराम शरण गुप्त, प्रभाकर माचवे, सुधीर, हंसराज रहबर, रमाकांत, अमृतलाल नागर, इंद्र विद्यावाचस्पति, उमाशंकर जोशी, रामवृक्ष बेनीपुरी, रावी, अज्ञेय, सुदर्शन, शांतिप्रिय द्विवेदी, वृंदावन लाल वर्मा, रामनारायण उपाध्याय...यह फेहरिस्त सचमुच कभी पूरी नहीं होगी।

अब अगर नए (पिछले कुछेक बरसों से लगातार काफी हाउस जाने वालों में) नाम इनमें जुड़ जाएंगे तो वे हैं- पंकज बिष्ट, राजकुमार सैनी, शैलेंद्र श्रीवास्तव, रमेश सक्सेना, वीरेंद्र सक्सेना, आनंद प्रकाश, अरविंद जैन, कंचन कुमार, हरदयाल, भगवान दास मोरवाल आदि।

काफी हाउस वह जगह है जहां पहुंचकर धर्म, राजनीति, शासन, वर्तमान, अतीत, भविष्य से लेकर सेक्स, शिक्षा, विज्ञान, शांति और युद्ध तक सभी कुछ डिस्कस होता है। लंबी चर्चाओं में विष्णु जी की सक्रिय हिस्सेदारी होती है। उत्तेजनाएं, चुपियां, उत्साह और नाराजगी...क्या नहीं होता? काफी हाउसियों को वहां पहुंचकर जैसे एक खुराक ही मिल जाती है आकसीजन की। और होली के आसपास तो जैसे पूरा माहौल ऐसा हो जाता है कि सब एकदम खुलकर एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। चुहलबाजियां होती हैं, छोटकशी होती है, ताने-बाने होते हैं और फुलझड़ियां बातों की छोड़ी जाती हैं। यह सब विष्णु जी की अध्यक्षता में होता है। वही काफी हाउसियों के आजीवन अध्यक्ष हैं। उनकी अनुपस्थिति से माहौल टूटने लगता है। लेकिन जब वह दिल्ली में होते हैं, तो काफी हाउस का रूटीन टूट नहीं सकता। और वह होते हैं वहां तो फिर काफी के साथ-साथ कुछ खाने को भी होता है। निर्भीक होकर चर्चा करने का जो सुख यहां पहुंचकर मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

नौ-साढ़े नौ बजे तक काफी हाउस में बैठना होता है। फिर धीरे-धीरे विष्णु जी सीढ़ियां उतरकर घर की रह लेते हैं। एक व्यक्ति के रूप कितने-कितने। लौटते-लौटते वह फिर अपने में सिमट जाते होंगे। रात का खाना-पानी लेकर करीब ग्यारह बजे तक सोने की तैयारी हो जाती है। यह सोने की तैयारी है या रात में एकाकी पड़े-पड़े कुछ न कुछ गुनते-बुनते रहने की- यह कोई नहीं जानता क्योंकि इसका एहसास ऐसा ही व्यक्ति कर सकता है जो नवें दशक के उत्तरार्द्ध में चल रहा हो। जो रचनाकार भी हो, पिता भी। दादा भी हो और मित्र भी। जो इंसान भी हो और मामूली नहीं। कोई पूछे कि उन्हें आजकल सबसे बड़ी चिंता क्या है? तो विष्णु जी जवाब दें न दें, जाहिर है- एक तो, जितना कुछ किया है, उसे समेटने की। दूसरे- जमा पूंजी से जो मकान बनाया था उसकी सुरक्षा की। यह एक ऐसा अध्याय है कि इसे खोलते ही फिर बहुत कुछ बेपर्दा हो जाएगा जो कष्टप्रद है। □

पुनरागमन

रामधारी सिंह दिवाकर

रेखांकन : दुर्गादत्त पांडेय



घाट की टूटी हुई सीढ़ियों पर बैठा मैं नदी की पतली-सी जलधारा को देखता रहा। सफेद वक्र रेखा-सी नदी दूर तक खिंची चली गई थी। चैत महीने में ही सूख रही नदी के कारुणिक वर्तमान को देखता मैं उन्नीस-बीस वर्ष पहले की उस नदी पर सोचने लगा जिस पर बांध नहीं बना था। निर्बंध-स्वच्छंद थी नदी। तब बरसाती महीनों में बाढ़ आती थी इस नदी में। खेत-खलिहान और कभी-कभी तो गांव के गांव डूबने लगते थे।

अब, सुना है, अंचरा का बांध बन गया है। नहरें निकल गई हैं और इस तरह एक उच्छृंखल नदी नियंत्रण में आ गई है।

नदी की याद के साथ ही अकस्मात मुझे दमयंती की याद हो आई और इसी के साथ यह भी याद आया कि गांव में मेरा यह छठा दिन है और अभी तक दमयंती से 'मुहामुंही' कोई बात नहीं हो पाई है।

लेकिन दमयंती के लिए मेरे मन में इतनी व्यग्रता क्यों है आखिर? इस नाम को मैं कोई तार्किक संगति नहीं दे पा रहा हूँ-खास तौर से उस रिक्त समय में... आत्महारा और आत्मनिर्वासित समय में जब दांपत्य की कटुता का उपसंहार शालिनी से तलाक के रूप में सामने आ चुका है।

स्मृति में पीछे की ओर मुड़कर देखता हूँ। छूटा हुआ उन्नीस-बीस वर्षों का समय। एक प्राइवेट कंपनी की नौकरी। गांव से दिल्ली, दिल्ली से मुंबई, हैदराबाद, कलकत्ता, मैसूर। एक महानगर से दूसरे महानगर में। शहर-शहर। इतना लंबा समय चुटकी बजाने-सा बीत गया।

और अब, इस लंबे अंतर के बाद बिल्कुल असूचित-आकस्मिक रूप से अपने गांव में वापसी। आज भी तलाक के कानूनी दिनों की याद मन में कचोटती रहती है। दहशत-सी होती है सोचकर। यह तो खैर शुभ हुआ मेरे लिए कि शालिनी ने तलाक के तुरंत बाद शादी कर ली और मुझे बिना जद्दोजहद के मेरी बेटी मिल गई।

अब यह जरूरत शिद्दत से महसूस होने लगी थी कि दिल्ली में अपना छोटा-सा

मकान होना चाहिए। फ्लैट खरीदने के लिए डेढ़-दो लाख रुपये कम पड़ रहे थे कुल जोड़ में। तब याद आई गांव में पड़ी अपने हिस्से की जमीन। बारह-तेरह एकड़ अपने हिस्से की जमीन आखिर किस दिन काम आएगी! खेती-बाड़ी करने के लिए तो गांव लौटकर जाना नहीं है। फिर जमीन रखे रहने का फायदा? मन-ही-मन मैं अपने स्वर्गीय पिता के प्रति कृतज्ञ हुआ जिन्होंने जीते-जी हम दोनों भाइयों के बीच जमीन का बंटवारा कर दिया था, अन्यथा भाई-भतीजों के ईमान का क्या भरोसा?

मैंने फ्लैट खरीदने के निर्णय के साथ यह भी सुनिश्चित कर लिया कि गांव में पड़ी अपने हिस्से की जमीन बेच डालूंगा। इसी उद्देश्य से जब गांव चलने की बात हुई तो सोचा, क्यों न बेटी नंदिनी को भी साथ ले चलूँ! उसको भी कुछ दिनों के लिए अपनी ऊब और अकेलेपन से निजात मिल जाएगी! मेरा गांव भी देख लेगी! नंदिनी अपनी पूरी जिंदगी में सिर्फ दो बार गोरखपुर के पास के एक गांव में गई है। पड़ोस में ही एक मेरे मित्र थे। उन्हीं के परिवार के साथ।

नंदिनी से जब मैंने अपने गांव चलने की बात कही थी, वह अपनी बड़ी-बड़ी निर्दोष आंखों से मुझे, मेरे अंतर्मन को छूती रही-गोया कह रही हो-डैड, आज किधर से निकला है सूरज? हंसने लगी वह "हां, डैड, चलिए न! मैं भी देख लूंगी आपका गांव!"

यह सब मैं सोच ही रहा था कि देखा, नदी पर सांझ की स्याही छाली-सी फैलने लगी है। पलटकर पच्छिम के क्षितिज की ओर देखना चाहा। पेड़ों की ओट में छिपा अस्ताचलगामी सूरज दिखा नहीं, दिख गई मां, जो पके गेहूँ के खेतों के बीच की मेंड़ से आहिस्ता-आहिस्ता मेरी तरफ आ रही थी। मां को यहां नदी के घाट पर आते देख मुझे हंसी आ गई। चूंकि दो-तीन घंटों से मैं मां की आंखों से दूर रहा, इसलिए मां मुझे दूढ़ती हुई उधर आई है। कहा होगा किसी ने कि मैं यहां दू-नदी के घाट पर।

पके गेहूँ के 'शीरा'-जैसी बूढ़ी मां ने मुस्कराते हुए मेरी तरफ देखा। मैंने हंसते हुए पूछा, "यहां क्यों आ गई, मां?"

मां सकुचाती हुई थकी आवाज में बोली, "तुम्हीं को खोजते-खोजते ... ।" मां की इस भोली सरलता पर मुझे मन-ही-मन हंसी आई। कुछ घंटों के लिए भी मां मुझे अपनी आंखों से ओझल होने देना नहीं चाहती। मैं सोचने लगा, चार दिनों बाद जब मैं दिल्ली लौटने लगूंगा तब मां पर क्या बीतेगी! उन्नीस वर्षों बाद मुझे अचानक पाकर जो मां प्रसन्नता में पागल-सी हो गई है, वह मां मेरी विदाई को कैसे बर्दाश्त कर सकेगी! थोड़ी देर के लिए भी कहीं निकलता हूँ, मां मुझे दूढ़ती हुई वहां तक पहुंच जाती है। जाने कब की स्थगित ममता की प्यास है मां के अंदर कि नदी का पूरा नीर ही पी जाना चाहती है।

चेती हवा की सिहरन से गेहूँ की बालियां बज रही थीं- रुझन-रुझन...पायल की आवाज हो जैसे। यह नैसर्गिक संगीत मैं कुछ क्षणों तक निमग्न भाव से सुनता रहा। फिर मां से कहा, "चलो मां, चलें।"

मां मेरे साथ-साथ चल सके, इस खयाल से मैं बहुत आहिस्ता-आहिस्ता चल रहा था। खेतों के बीच की मेंड़ से चलते हुए मेरे हाथ बार-बार गेहूँ की पकी बालियों को छू लेते थे। शरीर में विचित्र किस्म की सिहरन होने लगती थी। मेरे आहिस्ता-आहिस्ता चलने के बावजूद मां कुछ पीछे छूट गई थी। मैं मेंड़ पर खड़ा मां की प्रतीक्षा करने लगा। मां मेरे पास जाने की कोशिश में अपने जानते तेज चल रही थी। उसके छोटे-छोटे सफेद बाल हिल रहे थे। अचानक मां मुझे फसलों की देवी-मां-जैसी प्रतीत हुई। अपनी इस लोक कल्पना पर मैं मुस्कराता रहा।

मां से बातचीत का सिलसिला तलाशते हुए मैंने पूछा, "नंदिनी तो है न घर में?"

मां किंचित रोष से बोली, "कहां है घर में! आज भोरे-भोर दमयंती आई और नंदिनी को अपने घर ले गई। एकको घड़ी छोड़ती है दमयंती नंदिनी को!" मेरे पीछे-पीछे

चलती हुई मां रास्ते भर भुनभुनाती रही, "जाने कौन बसीकरन मंतर जानती है ई दमयंती। जब से मेरी पोती आई है, उसी के साथ डोलती फिरती है। निश्चित होकर बतिया भी नहीं पाई हूँ अपनी पोती से।...बेचारी नंदिनी! ...कैसी कठकरेज-कसाइन होगी ऊ महतारी जो फूल-जैसी बेटी को छोड़कर दूसरे घर जा बैठी!..."

मां के इस आत्मालाप पर मैं ठिठक कर खड़ा हो गया। तो क्या मां को भी इस सबकी जानकारी हो गई है?

दरवाजे पर पहुंचकर मां हांफने लगी और वहीं जमीन पर पंजों के बल बैठ गई। चेती सांझ की मटमैली उजास थी। दरवाजे पर खड़ा मैं भैया के नए पक्के मकान को देख रहा था। पहले यहां खपरैल थी और टीन की छत वाला दालान था। अब कहीं उनके अवशेष तक नहीं हैं।

मकान की छत पर खड़ी भाभी ने मुझे देख लिया था। उन्होंने नौकर से दो कुर्सियां भेज दीं। एक कुर्सी पर बैठते हुए दूसरी कुर्सी मैंने मां की तरफ बढ़ा दी, "बैठो न मां, कुर्सी पर।"

मां को जमीन पर बैठने में शायद ज्यादा आराम मिल रहा था। वह उठना नहीं चाह रही थी। मैंने समझा, मां ने मेरी आवाज सुनी नहीं, इसलिए मैंने मां की बांह पकड़कर सहारा देते हुए कुर्सी पर बिठा दिया। मां जैसे निहाल हो गई। स्नेहिल गर्व से वह मुझे देखने लगी। तब तक भाभी बरामदे का बल्ब जलाकर दरवाजे पर आ गई थीं और ठीक मेरे सामने की कुर्सी पर बैठ गई थीं।

वर्षों बाद मैंने भाभी का चेहरा गौर से देखा। पचास-इक्यावन के आस-पास की उम्र, मगर देखने में वे कुछ कम उम्र की लगती थीं। उम्र के बावजूद छरहरा-सुडौल शरीर। चेहरे की पीताभ लुनाई बदरंग होते-होते भी कुछ बची हुई थी-कटे हुए चांद की रोशनी की तरह।

भाभी ने मुझे अपनी तरफ देखते देखा

तो इस उम्र में भी तरुणी की तरह लजा गई। गेट की तरफ देखती हुई बोली, "लीजिए, आ गई आपकी दमयंती!"

'आपकी' शब्द को कुछ इस तरह खींचकर भाभी बोलीं कि मैं झंप गया। दरअसल भाभी एक पुरानी किताब के पन्ने पलट रही थीं। किताब के उन पन्नों में समय के बीतने की एक खास गंध थी। मैं समझ गया-भाभी का इशारा किधर है।

उन दिनों को मैं भूला नहीं हूँ जब मेरे और दमयंती के संबंधों को लेकर पूरा गांव बुरी तरह उलझ गया था। कटुता इस हद तक पहुंच गई थी कि मुझे गांव छोड़ना पड़ा था। इस पूरे प्रसंग में सिर्फ भाभी थीं जो मेरा मन जानती थीं, लेकिन उनकी विवश-निर्बल आवाज उस तूफान में दब गई थी। भाभी ने सिर्फ दमयंती के गेट के अंदर आने की बात कही थी, लेकिन मैंने देखा कि दमयंती के साथ मेरी बेटो नंदिनी भी है। नंदिनी अपनी दादी के गले में बांहें डाल खड़ी हो गई और दादी के झुर्रीदार चेहरे से अपना चेहरा सटाकर मेरी ओर देखने लगी।

मैं जानता हूँ, नंदिनी को इतना प्यार पाने की आदत कभी नहीं रही। शायद यही वजह थी कि दादी की आंखों में आए आंसू के कारण नंदिनी की आंखें भी भीगने लगी थीं। सम्मिलित परिवार का नेह-छोह और संबंधों का वैविध्य नंदिनी को कभी मिला नहीं। दिल्ली में जन्मी, वहीं पली-बढ़ी। प्रायः हॉस्टल ही घर रहा उसका। मेरे पैतृक गांव में आने का यह उसका पहला अवसर है। मैं चकित हूँ, नंदिनी की प्रसन्नता देखकर। सोच नहीं पा रहा हूँ कि इतनी प्रसन्न और उत्फुल्ल वह अपने जीवन में कब रही थी! ऐसी मुक्त हंसी और चेहरे से छलक पड़ने वाला आंतरिक आह्लाद!...परितृप्त नेत्रों से मैं अपनी बेटो को देखता रहा। सोचता रहा- सर्वथा अपरिचित गांव में, परिचय की ऐसी प्रगाढ़ आत्मीयता आखिर कैसे मिल गई नंदिनी को! मुझे लगा, इसका सारा श्रेय दमयंती को है।

जब से गांव आया हूँ, दमयंती छाया की तरह लगी हुई है नंदिनी के साथ। भाभी ने

आज सुबह मुझे बताया था, "एक बात का पता है आपको अनिल जी, आपकी खातिर 'आपकी' दमयंती ने स्कूल से छुट्टी ले ली है।"

'आपकी' शब्द बोलकर भाभी सप्रयोजन मुस्कराने लगी थीं। मेरी आंखें लाज से झुक गई थीं।

अपने सामने खड़ी दमयंती को मैंने कनखियों से देखना चाहा। जाड़े की उतरती धूप-जैसा चेहरे का रंग...सूनी मांग।...भाभी ने ही बताया था-अनब्याही रह गई दमयंती। मां-बाप ने इसकी शादी के लिए क्या-क्या जतन नहीं किए, मगर इसकी एक ही जिद कि नहीं करेगी शादी-वादी। मैट्रिक पास करने के बाद गुरु-ट्रेनिंग की और बगल के ही स्कूल में मास्टरनी बन गई। मां-बाप तो गुजर गए, भाई-भौजाई हैं परिवार में।

नंदिनी अपनी दादी से लिपटी खड़ी थी। मैंने आह्लादित होकर नंदिनी से पूछा, "क्यों बेटा, कैसा लगता है मेरा गांव?"

आंखों से हंसती नंदिनी बोली, "बहुत अच्छा डेड! बहुत प्यारा! लवली!...दमयंती जी हैं न! इनके साथ खूब घूमती हूँ- कभी गेहूँ के खेतों में, कभी गांव में, कभी झील के किनारे। आज दमयंती जी एक मंदिर में ले गई थीं। बहुत पुराना-सा मंदिर था। क्या नाम था मंदिर का?"...नंदिनी कुछ याद करने की कोशिश में दमयंती की ओर देखने लगी। भाभी ने धीरे से कहा, "अजी वही...नाथबाबा का मंदिर!"

"हां-हां, वही नाथबाबा का मंदिर! वहां खूबसूरत-सा पोखर है-कमलपोखर।"

मैंने मुस्कराते हुए पूछा, "और जटा-जूटों वाला वह विशाल बरगद नहीं देखा?"

नंदिनी मेरा चेहरा देखने लगी। भाभी बोलीं, "कहां है वह बरगद! वह तो कब का गिर गया।"

मुझे अचानक मन पर गहरी चोट-सी लगी, "आयं! गिर गया बरगद?"

"अचरज की बात थी अनिलजी," भाभी कहने लगीं, "नं आंधी, न तूफान, न

भूकंप...कहीं कुछ नहीं। बस हल्का-सा बवंडर उठा था और इतना विशाल पेड़ गिर गया।" भाभी बोल कर कुछ पल चुप रह गईं, फिर बोलीं, "पेड़ जब गिरा था तब ऐसी भयानक आवाज हुई थी कि लगता था, भूकंप आ गया। लोग घर से बाहर निकल आए थे। अधरतिया का समय रहा होगा।"

"असल में जड़ में ही रोग लग गया था। क्या कहते हैं उस रोग को! हां, चाराहा रोग। दिखता नहीं था, लेकिन जड़ खोखली हो गई थी।" यह आवाज दमयंती की थी।

मैंने भाभी की ओर देखते हुए जैसे अपने आप से कहा, "हां, कभी-कभी ऐसा भी होता है। जब जड़ ही खोखली हो जाए तब पेड़ को गिराने के लिए हवा का हल्का-सा झोंका भी काफी होता है।" बोलते हुए मैंने एक नजर दमयंती पर डाली। दमयंती लगातार मुझे ही देखे जा रही थी। मुझे महसूस हो रहा था जैसे दमयंती की सफरी-सी आंखें मेरे चेहरे की रेखाओं के जाल में फंस गई हैं। अपनी दादी से सटी खड़ी नंदिनी विस्मित-विमूढ़-सी कभी मुझे देखती थी, कभी दमयंती को।

नंदिनी ने प्रसंग बदलते हुए कहा, "दमयंती जी आपको बुलाने आई हैं। आपका खाना इन्हीं के यहां बन रहा है।"

मां खिसिया गई, "काहे? काहे बनेगा 'बउआ' का खाना दमयंती के यहां? मां दमयंती को देखती हुई बोली, "क्यों री, एक तो जाने क्या खिलाकर मेरी पोतो को पोट लिया है तुमने। अब कहती हो कि अनिल का खाना भी तुम्हारे घर बन रहा है। नहीं जाएगा अनिल किसी के घर खाने-वाने।"

भाभी ने एक नजर मुझे देखा और फिर मां की तरफ उन्मुख होती बोलीं, "जाने दीजिए न मां जी। दिल मत तोड़िए दमयंती का। बेचारी ने खाना बनाया है प्रेम से!"

भाभी के 'प्रेम' शब्द पर दमयंती लजा गई और दूसरी तरफ देखने लगी। मां कुछ सोचती हुई-सी बोली, "तब मैं भी चलूंगी बउआ के साथ।"

मां की इस बाल-वृत्ति पर मुझे हंसी

आ गई। सोचने लगा, बुढ़ापे में आदमी बच्चों-जैसा क्यों बन जाता है! मां के अंतर्गमन को समझने में मुझे दिक्कत नहीं हुई। समझ गया कि वही बात है-पुत्र-स्नेह की प्यासी मां एक क्षण के लिए भी मुझे अपनी आंखों से ओझल होने देना नहीं चाहती है।

आखिर मां भी मेरे साथ गई दमयंती के घर। दमयंती ने जो थाली परोसकर मेरे सामने रखी-उसे देख मैं देर तक मुस्कराता रहा। सोचता रहा, दमयंती अभी तक मेरी पसंद को भूली नहीं है। खांटी देहाती पसंद! तिलकोर का तरुआ, अरिकंचन का बिरिया, बकफूल की पकौड़ी, आमआदी की चटनी, मांगुर माछ और ऐसी ही और चीजें। भूले हुए कितने ही स्वाद। नंदिनी मेरी मुस्कराहट देख हंस रही थी। शायद समझ रही थी-कोई मामला है थाली में परोसी हुई सामग्रियों और मेरे-दमयंती के बीच।

खाना शुरू करते हुए मैंने नंदिनी से कहा, "तुम नहीं खाओगी, बेटा?"

नंदिनी मेजबान बनी हुई थी। बोली, "मैं बाद में खाऊंगी दमयंती जी के साथ। आप खाइए न।"

देर रात मां के साथ लौटकर जब अपने दरवाजे पर आया तो देखा, भैया दरवाजे के ठीक सामने खड़े हमारी राह देख रहे हैं। नंदिनी को साथ आया न देख उन्होंने पूछा, "नंदिनी कहाँ रह गई?"

मुझसे तत्काल कुछ उत्तर देते नहीं बना। मां जो आज लगातार दमयंती पर झल्लाती रही थी, उस वक्त दमयंती की प्रवक्ता बन गई, "रोक लिया दमयंती ने। क्या करे कोई! नंदिनी का मन लगता है उसके साथ। गांव में कवनो लड़की-मेहरारू तो पढ़ी-लिखी है नहीं, जिसके साथ गप-शप भी कर सके नंदिनी!"

भैया के पीछे-पीछे चलते हुए मैं और मां बरामदे में आए। भैया ने खाली कुर्सी की तरफ इशारा किया, "बैठो।"

माहौल को सूंघता हुआ मैं समझ गया

कि अब कौन-सी बात शुरू होने वाली है। पीछे दरवाजे के पास भाभी खड़ी मिलीं। मां नीचे फर्श पर बैठ गई।

मेरे सामने की कुर्सी पर बैठते हुए भैया ने एकदम बेलाग बात शुरू की, "सुना है, नंदिनी की मां से तुम्हारी 'छुट्टा-छुट्टी' हो गई?"

भैया के मुंह से अचानक तलाक वाली बात निकलेगी, ऐसी उम्मीद मुझे नहीं थी। इतना मैं अवश्य जान गया था कि शालिनी से तलाक की बात यहां गांव में भी पहुंच चुकी है। इस गांव-दिगार के सैकड़ों लोग हैं दिल्ली में- मजदूर, कारीगर, सरकारी-गैर सरकारी नौकर। कई तो मुझे दूढ़ते-दूढ़ते मेरे पास पहुंच भी जाते हैं। ऐसे में तलाक की बात भला छिपने वाली थी? छिपने-छिपाने के लिए अब दिल्ली भी छोटी पड़ गई है।

मेरी चुप्पी ही भैया के प्रश्न का विवश उत्तर थी। इसकी बाबत आगे उन्होंने कुछ नहीं पूछा। उनके चेहरे पर मेरे प्रति तटस्थ आत्मीयता का विचित्र-सा भाव था। जैसे वे कह रहे थे- खुद किया था प्रेम-विवाह! अब तुम जानो...

भैया ने अब वही प्रतीक्षित प्रसंग शुरू किया जिसकी मुझे जरूरत थी। यहां पहुंचते ही भाभी से मैंने सारी बातें कही थीं। उद्देश्य सिर्फ यही था कि भाभी भैया से कहेंगी और जमीन की बिक्री का कोई रास्ता निकल आएगा। आज सुबह भाभी ने बताया था कि एक-डेढ़ लाख नकद देने वाला कोई ग्राहक नहीं मिल रहा है। कस्बे में कोई मिले तो मिले!

मुझे संबोधित करते हुए भैया कहने लगे, "तुम्हारे हिस्से की करीब तेरह एकड़ जमीन है। तीस-से-चालीस हजार रुपये एकड़ का रेट चल रहा है इस इलाके में, लेकिन जमीन का ऐसा कोई ग्राहक नहीं मिल रहा है जो एकमुश्त डेढ़ लाख रुपये दे सके। थोड़ा समय लगेगा ग्राहक खोजने में। ऐसा करो कि तुम अपना पता-ठिकाना लिखकर दे दो। जैसे ही कोई ग्राहक मिला, मैं खबर करूंगा और तुम चले आना।"

मां जो नीचे फर्श पर 'चुककू-मुककू' बैठी हुई थी, अचानक बोली, "हां बेटा, आ जाना और नंदिनी को भी साथ लेते आना।" मां को जमीन की बिक्री से कुछ लेना-देना नहीं था। उसकी चिंता के केंद्र में मैं था और नंदिनी थी।

आज दसवां दिन है- हमारे दिल्ली लौटने का दिन। नंदिनी ने दोनों अटैचियों में सामान भर लिए हैं और अंदर आंगन के एक कोने में दमयंती के साथ गुमसुम बैठी हुई है। बड़ा उदास-उदास-सा लग रहा है घर का माहौल। मां और दमयंती पर सोचते हुए मैं भीतर से टूट-बिखर रहा हूं। मां आंगन में बैठी लगातार रो रही है। नंदिनी के साथ बैठी दमयंती को मैंने देखा। वह उंगली से जमीन पर रेखाएं बना-मिट रही थी-एकदम चुप और उदास। उठता हुआ मेला, खत्म होता त्यौहार।

मन की अतृप्त कामना मुझे बेचैन कर रही है। एक बार भी दमयंती से एकांत में मुलाकात न हो सकी। कुशल-क्षेम भी नहीं पूछ सका। हमें स्टेशन पहुंचाने के लिए भैया ने कहीं से एक जीप मंगा ली है। टोले के ढेर सारे लोग- बच्चे, बूढ़े, औरतें, मर्द सब दरवाजे पर खड़े हैं। मेरी आंखें बेचैनी से दमयंती को दूढ़ रही हैं। अभी-अभी तो यहीं थी नंदिनी के साथ। फिर कहाँ चली गई? कम-से-कम उसकी विदा-दृष्टि का एक बिंब ही साथ रह जाता! लेकिन वह तो दिख नहीं रही है कहीं- न आंगन में, न दरवाजे पर।

जीप में बैठने के लिए पांव बढ़ाता हूं कि तभी भाभी याद दिलाती हैं, "गुसाईंघर में जाकर कुलदेवता को प्रणाम नहीं कर आए?"

मुझे हठात याद आता है कि मेरे परिवार में यह रीति चली आई है कि किसी यात्रा पर निकलते समय पूजा-घर में जाकर कुलदेवता की चौरी को प्रमाण करना पड़ता है। इस नए मकान में पूजाघर मेरा देखा हुआ नहीं है। भाभी मेरे रुके हुए पांवों की दुविधा समझकर कहती हैं, "चलिए..."

आगे-आगे भाभी, पीछे-पीछे मैं। अंदर

आंगन के पार पूजाघर की देहरी तक मुझे पहुंचाकर भाभी पता नहीं कहाँ चली जाती हैं। मैं इधर-उधर उनको ढूँढ़ता हूँ, मगर वे कहीं दिखतीं नहीं।

जूते खोलकर कुलदेवता की चौरी को प्रणाम करने के लिए मैं ज्यों ही पूजाघर के अंदर जाता हूँ कि हठात नजर पड़ जाती है दमयंती पर। देखता हूँ— किवाड़ से लगी खड़ी है वह मूर्ति की तरह अविचल।

याद नहीं, कितनी देर तक हम एक-दूसरे को देखते रहे अपलक-निःशब्द। आंसू की बाढ़ में डूबती दमयंती हिचकियाँ लेती बोली, “आखिर भूल गए न तुम!”

एकदम निरुत्तर मैं सिर्फ देखता रहा दमयंती का आंसू में डूबा चेहरा। कुछ बोलने का साहस बटोर ही रहा था कि ‘डैड-डैड’ पुकारती हुई नंदिनी आ गई, “आप इतनी देर से यहां क्या कर रहे हैं, डैड? गाड़ी स्टार्ट हुई खड़ी है।”

नंदिनी कुछ और बोलने ही जा रही थी कि पूजाघर की देहरी के अंदर, नीम अंधेरे में खड़ी दमयंती को देख वह सकपका गई। बारी-बारी से उसने मुझे और दमयंती को देखा।

आंचल से आंखें पोंछती दमयंती पूजाघर से निकली और नंदिनी के कंधों पर दाहिनी बांह रखे आहिस्ता-आहिस्ता दरवाजे की ओर जाने लगी।

विदा-वेला में हालांकि वातावरण अवसाद में डूबा हुआ था, फिर भी मेरे और दमयंती के मिलन से भाभी के चहरे पर विचित्र-सी स्मिति-रेखा थी— चेहरे की रेखाओं से अलग।

जीप में बैठती हुई नंदिनी जार-बेजार रो रही थी। आत्मा तक को रुला देने वाले मां के रुदन को मैं बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। मेरी आंखें भी भर आईं मां को देखकर। वर्षों बाद नेह के आंसू का प्रवाह जाने कब की सूनी-वीरान परती पड़ी मन की धरती को गीला बना रहा था। नंदिनी की तो खैर बात ही अलग थी। उसके जीवन में कभी

बाबा नागार्जुन नहीं रहे !



हिंदी के वरिष्ठतम कवि, कथाकार, समालोचक और यायावर बाबा नागार्जुन का लंबी बीमारी के बाद पिछले दिनों निधन हो गया। बाबा का आशीर्वाद आजकल को लगातार प्राप्त होता रहा। पाठकों को याद होगा कि दो वर्ष पूर्व आजकल ने ‘नागार्जुन विशेषांक’ प्रकाशित किया था तथा उनके सम्मान में ‘नागार्जुन संध्या’ का भी आयोजन किया था। आजकल-परिवार की ओर से उन्हें विनम्र श्रद्धांजलि।

आगामी अंक में नागार्जुन पर विशेष सामग्री दी जाएगी।

ऐसी ऊष्ण पारिवारिक आत्मीयता आई ही नहीं थी। रेलवे स्टेशन पहुंचने तक वह लगातार रोती ही रही।

महानंदा एक्सप्रेस ट्रेन में बैठने तक न मैंने एक शब्द नंदिनी से कहा, न नंदिनी ने मुझसे। ट्रेन जब अगले स्टेशन पर रुकी, नंदिनी अपने भीतर के किसी वात्स्याचक्र से निकलती हुई पूछ बैठी, “एक बात पूछूँ डैड?”

हायर सेकेंड्री की परीक्षा देने वाली अपनी बेटी की ऐसी दृढ़ और प्रगल्भ आवाज मैंने कभी नहीं सुनी थी। भीतर से लड़खड़ा गया मैं। फिर भी कहा, “क्या?”

“सच बताइगा, डैड! दमयंती जी से आपका...” वाक्य पूरा नहीं कर पाई नंदिनी, लेकिन मैं पूरे वाक्य का अभिप्राय या शायद उससे भी कुछ ज्यादा समझ गया।

अपनी बेटी से आंखें मिलाकर बात करने की हिम्मत मुझमें नहीं थी। मैं खिड़की से बाहर देखने लगा। चैत महीने की उदास गोधूलि में आम्र मंजरियों से भरे बगान बड़ी तेजी से पीछे की तरफ भाग रहे थे। मुझे लगा, गाड़ी खड़ी है और बाहर की दुनिया भाग रही है पीछे की ओर।

गाड़ी की हड़हड़-गड़गड़ में भी मुझे नंदिनी की आवाज साफ-साफ सुनाई पड़ी, “कुछ महीनों बाद तो आप गांव आएंगे ही। क्या ऐसा नहीं हो सकता, डैड, कि दिल्ली लौटते समय आप दमयंती जी को भी साथ लेते आएँ? क्या ऐसा नहीं हो सकता?”

मुझसे हां-ना कुछ उत्तर देते नहीं बन रहा था। गाड़ी एक पुल से गुजर रही थी— एक पुराने पुल से। मैं महसूस कर रहा था— पुल कांप रहा है। □

रीतिकाल और आधुनिक काल के संधि युग के कवि चंद्रशेखर वाजपेयी

आज से 200 वर्ष पूर्व जन्मे कवि चंद्रशेखर वाजपेयी रीतिकाल तथा आधुनिक काल के संधि युग के कवि थे। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उन्हें आचार्य, कवि, भक्त एवं अनुवादक के रूप में सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। रीति, नीति, राजनीति, वीर तथा शृंगारपरक रचनाओं के प्रणयन में वह निष्णात माने गए हैं। प्रसिद्ध वीर काव्य हमीर हठ उन्हीं की कालजयी कृति है। उनकी द्विशताब्दी के अवसर पर प्रस्तुत है आत्माराम शर्मा 'अरुण' द्वारा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय।

उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद के अंतर्गत गांव मौजमाबाद के वाजपेयी घराने में कई पीढ़ियों तक काव्य सृजन होता रहा। किंतु आश्चर्य है कि दो शताब्दियां बीत जाने के बाद भी हिंदी जगत अभी तक इस वंश के कवियों तथा उनके काव्य ग्रंथों से अवगत नहीं हो पाया है।

इसी घराने में आज से 200 वर्ष पूर्व पौष शुक्ल दसवीं संवत् 2055 वि. को चंद्रशेखर वाजपेयी का जन्म हुआ था। कवि शेखर रीतिकाल तथा आधुनिक काल के संधि युग के कवि थे। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उन्हें आचार्य, कवि, भक्त एवं अनुवादक के रूप में सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। रीति, नीति, राजनीति, वीर तथा शृंगारपरक रचनाओं के प्रणयन में वह निष्णात माने गए हैं। प्रसिद्ध वीर काव्य हमीर हठ उन्हीं की कालजयी कृति है।

बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर सन् 1888-89 ई. में कभी पटना में सिखों की हरमंदिर संगत के महंत बाबा सुमेर सिंह साहबजादे को लेकर गुरु गोविंद सिंह द्वारा औरंगजेब को फारसी में लिखे प्रसिद्ध ऐतिहासिक पत्र की खोज में पटियाला गए थे। वहां वह तीन महीने तक रहे। इस अवधि में उन्हें कवि शेखर के पुत्र गौरीशंकर वाजपेयी से शेखर कृत ग्रंथ भी मिले थे तथा उनका जीवन चरित भी। इस संदर्भ में रत्नाकर जी ने निम्नवत् स्वीकार किया है-

'इन कवि जी के पुत्र पंडित गौरीशंकर जी वाजपेयी पटियाले में वर्तमान हैं। ये महाशय बड़े प्रेमी और सुहृद हैं। कविता इनकी बहुत चोखी और रसीली होती है। जब मैं पटियाले गया था तब मुझसे इनसे घंटों सत्संग रहता था। इन्हीं की कृपा से मुझे चंद्रशेखर जी के कई ग्रंथ प्राप्त हुए और यह जीवन चरित्र भी इन्हीं से मिला था।'

चंद्रशेखर वाजपेयी के पिता के विषय में रत्नाकर जी ने लिखा है- 'इनके पिता पंडित मनीराम जी वाजपेयी भी अच्छे कवि थे।' रत्नाकर जी के ही अनुसार नखशिख की पुष्पिका में कवि शेखर ने स्वयं को 'वाजपेयीवंशावतंस मानूलालात्मजः' लिखा है। यहां प्रश्न उठता है कि चंद्रशेखर वाजपेयी के पिता मनीराम वाजपेयी थे अथवा मानूलाल? अपनी ओर से इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं- 'इस प्रति में, जो मुझे मिली है, चंद्रशेखर जी के पिता का नाम मानूलाल लिखा है। यह प्रति चंद्रशेखर जी के हाथ की लिखी है। परंतु उनके पुत्र पंडित गौरीशंकर जी ने उनके पिता अथवा अपने पितामह का नाम मनीराम लिखवाया है। संभव है, मानूलाल नाम रहा हो और मनीराम छपा हो।' अब न तो चंद्रशेखर के हाथ की लिखी उनके नखशिख की उक्त प्रति ही सुलभ है और न गौरीशंकर वाजपेयी द्वारा रत्नाकर को दिया उनके पिता कवि शेखर का जीवन चरित ही। अतः विवाद का निपटारा सरल प्रतीत नहीं होता।

वंश में कई पीढ़ियों तक काव्य सृजन के संदर्भ में रत्नाकर ने लिखा है- 'इनके वंश में काव्य की चर्चा कई पीढ़ियों से चली आती है। पहले इनके वंश की आज्ञाविका हुंडी इत्यादि की थी, कविता केवल मन के उत्साह से की जाती थी। पर हंसाराम जी के समय से, जो कि श्री गुरु गोविंद सिंह जी के कृपा पात्र थे, यही जीविका हो गई।'

बालक चंद्रशेखर का पालन-पोषण पिता के सान्निध्य में ही होता रहा। उनकी प्रारंभिक शिक्षा भी घर पर ही हुई। विद्वानों के कुल में उत्पन्न होने के कारण संस्कार बचपन से ही सही दिशा में विकसित

होते रहे। भाषा और संस्कृत की स्तरीय शिक्षा उन्हें देवीदयाल वाजपेयी से मिली थी। इसके पश्चात काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने कवि करणेश की शिष्यता में रहकर किया था। ज्योतिषशास्त्र में भी वह पारंगत थे। बाईस वर्ष की आयु तक उन्होंने स्तरीय ग्रंथों का भली-भांति पारायण कर लिया था।

विद्याध्ययन के पश्चात बाईस वर्ष की अवस्था में वह देशाटन करने के निमित्त घर से चले। पहले वह दरभंगा की ओर गए और उस प्रांत के राजदरबारों में उन्होंने यथोचित प्रतिष्ठा पाई। सात वर्ष तक उसी प्रदेश में रहे। संवत् 1877 से 1884 की अवधि में उनके द्वारा रचित ज्योतिष का ताजक का ही विवरण मिलता है। डा. राजनारायण सौर्य ने इसका विवरण देते हुए लिखा है- 'ज्योतिष का ताजक (मुहूर्त ग्रंथ) चंद्रशेखर वाजपेयी संवत् 1880 ब्रज (भाषा) पद्य।'

चंद्रशेखर वाजपेयी के कर्तृत्व पर शोध के दौरान मुझे उनका रचा हुआ निम्न कवित्त प्राप्त हुआ-

बाजै बीर बाजै सुनि गैयर गरुद्ध गाजै
तजै बीर वाहिनी समथ सनु सब मै।
सेखर बिहद बीर बहकि बिरद बोलै
बदल घटा सी बढ़ी भूपति समथ मै।
अर्जुन समान चढ़ो अर्जुन नरिद
भई समर उमंग की तरंग अंग पथ मै।
नेजन के जाल मै निहार खग डाल पै
अमान बाह विक्रम कमान गति हथ मै।।

इस कवित्त में कवि शेखर ने अर्जुन सिंह के आक्रमण करने पर विक्रम द्वारा युद्ध की तैयारी का वर्णन किया है। 'चरखारी के राजा खुमान सिंह के मरने पर विक्रमाजीत उर्फ विजय बहादुर राजा हुआ। उसके और उसके चचेरे भाई बांदा के राजा अर्जुन सिंह के हमेशा झगड़े होते थे।' यह स्वयं भी कवि थे तथा इनके दरबार में 'सभाशेखर, लाल, प्रयाग दास, गोपाल और भोजराज आदि कवियों को आश्रय प्राप्त था।'

बहुत संभव है, उक्त सभाशेखर चंद्रशेखर ही रहे हों। विक्रमाजीत की प्रशंसा में रचित उक्त कवित्त इस तथ्य का प्रमाण है कि कवि शेखर कुछ समय तक चरखारी में आश्रित रहे थे। तदनंतर वे बूंदी चले गए। बूंदी नरेश रामसिंह से जोधपुर नरेश मानसिंह की पुत्री ब्याही थीं। बूंदी में रहते हुए भी कवि शेखर महाराजा मानसिंह की रुचि, प्रवृत्ति से अवगत हो गए थे अतः बूंदी से संवत् 1894 वि. में जब वे मानसिंह के काव्यगुरु बांकीदास आसिया के माध्यम से जोधपुर दरबार में पहुंचे तो उन्होंने एक कविता पढ़ी।

कवि शेखर के उक्त कविता पाठ से महाराजा मानसिंह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने 100 रुपये महीना वेतन देना स्वीकार करके शेखर को अपने दरबार में राजकवि नियुक्त कर लिया। जोधपुर दरबार में वे महाराजा मानसिंह के जीवन काल में सम्मानपूर्वक रहकर ग्रंथ प्रणयन करते रहे।

महाराजा मानसिंह के निधन के पश्चात जोधपुर में तख्तसिंह का राज्याभिषेक मंगसिर सुदी 10 संवत् 1900 वि. में हुआ था। उन्होंने मितव्ययिता हेतु सभी राज्य कर्मचारियों का वेतन आधा कर दिया। आधे वेतन अर्थात् 50 रुपये मासिक पर कवि शेखर को जोधपुर दरबार में रहना स्वीकार न हुआ। फलतः अन्यत्र आश्रय पाने की इच्छा से वे जोधपुर दरबार को छोड़कर चल दिए। उस समय का रचा हुआ उनका निम्न कवित्त प्राप्त हुआ है-

ऐ रे मन मलिन वृथा तू होत बार-बार
धीरज संभार काज सुजन करत है।
सूखे मानसर के न मरत मराल जाल
मंजु मुक्तानि हेरि उदर भरत है।।
सेखर सचानि हेरि बिहंग विहीन देस
उड़ैहि अनत बड़े-बड़े मै परत है।
भाजहि गए जो गज एक बन ते तो कहा
सिंहन के जी मै कछु सोच न रहत है।।

जोधपुर से कवि शेखर अलवर होते हुए पटियाला में आए। संवत् 1900 वि. के पौष मास में जब कवि शेखर पटियाला आए तो उस समय यहां महाराजा कर्मसिंह का राज्य था। कवि शेखर की कविता से महाराजा प्रसन्न हुए और उन्होंने पांच रसद उनके वास्ते पक्की कर दी। फिर कवि शेखर पटियाला के ही होकर रह गए। यहां तक कि तख्त सिंह के भेजे मुंशी लाडिलीदास के बुलाते रहने पर भी वे पुनः जोधपुर नहीं गए।

रत्नाकर जी ने लिखा है कि महाराजा कर्मसिंह की आज्ञानुसार उन्होंने नीति का एक वृहद ग्रंथ रचा। यह भी संभव है, इसकी रचना कवि ने महाराजा कर्म सिंह के शासनकाल में प्रारंभ की हो और किन्हीं कारणों से यह ग्रंथ तब पूरा न किया जा सका हो। कर्मसिंह के शासनकाल में कवि शेखर द्वारा रचित दो अन्य ग्रंथों की जानकारी मिली है। ये दोनों रचनाएं अनूदित हैं। इनमें एक है- शांति पर्व भाष्य। महाभारत के शांति पर्व का यह भाषा में छंदोबद्ध अनुवाद है। इस संदर्भ में अंतःसाक्ष्य द्रष्टव्य है-

श्री गुरु परम कृपालु चित्त हुकम कियो इक बार।
सकल सुकवि जन मिलि रचो भारत भाषा सार।।
कछुक पर्व सुकवि जन रचे सेष रहे जो और।
ते भाषा कवि जन रचो कह्यो भूप सिरमौर।।
उमादास द्विज तब करी अस्वमेध की रीति।
दई बसंत मृगेस को भीषम पर्व सुपुनीत।।
कर्मसिंह अवनीय मन नित हित चित्त जुत चाह।
द्विज सेखर पर करी कृपा गही बांह नर नाह।।
दान दियौ सनमान करि बिप्र आपनो जानि।
शांति पर्व भाषा रच्यौ हुकम कियो सुख मानि।।

(शांतिपर्व भाष्य)

दूसरी कृति *देवी भागवत भाषा* है। यह भी अनूदित है। *देवी भागवत भाषा* के रूप में यह *देवी भागवत पुराण* का भाषा में छंदोबद्ध अनुवाद है। श्री शमशेर सिंह अशोक ने रचनाकाल संवत् 1901 वि. देकर लिखा है कि इसकी रचना महाराजा नरेंद्र सिंह के शासनकाल में हुई थी। किंतु उनकी यह मान्यता इस आधार पर खरी नहीं उतरती कि संवत् 1901 वि. का समय महाराजा कर्मसिंह के शासन का रहा है। इनका निधन 23 दिसंबर संवत् 1902 वि. में हुआ था। तदुपरांत जनवरी सन् 1846 ई. (संवत् 1902 वि.) में नरेंद्र सिंह पटियाला के राजा बने थे।

कवि शोखर नरेंद्र सिंह के शासनकाल में सम्मानपूर्वक पटियाला में काव्य ग्रंथों का प्रणयन करते रहे। प्रसिद्ध वीर काव्य *हमीर हठ* की रचना उन्होंने महाराजा नरेंद्र सिंह के आदेश से चित्रावली के आधार पर की थी। इस संदर्भ में निम्न घटना का उल्लेख रत्नाकर जी ने किया है-

'जब महाराजा कर्मसिंह का देहांत हुआ और उनका अस्थि संचयन हो रहा था उस समय ऐसे गुणगाहक स्वामी के मरने के कारण यह बड़े विलाप से अश्रुपात कर रहे थे और बड़े ही उदास और मलिन थे। महाराजा नरेंद्र सिंह ने उनकी यह दशा देखी और दरबार जाकर चोबदार को बुलवाकर कहा कि तुम उदास मत हो। तुम्हारा बैसा ही आदर-सम्मान होता रहेगा। उस समय महाराजा *हमीर हठ* की एक चित्रावली देख रहे थे। उसे कवि जी को देकर आज्ञा दी कि तुम इसका वर्णन काव्य में बांध लाओ। उसी आज्ञानुसार उन्होंने *हमीर हठ* रचा।'

कृष्णभक्त कवि चंद्रशेखर वाजपेयी को वृंदावन से लगाव था। कहते हैं, पटियाला से छुट्टी लेकर वे कभी-कभी वृंदावन आया करते थे। इस आशय से रचा हुआ उनका निम्न कवित्त है-

गोकुल को जाइबे की जमुना नहाइबे की
तीनों ताप तपनि बुझाइबे की बारी है।
गिरिराज पेखिबे की वृंदावन देखिबे की
जनम सफल करि लेखिबे की पारी है।।
मकर महीना का महातम्य मुनि गायो
आगम में सेखर पुरानन निहारी है।
हिंद की पनाही नरनाही श्री नरेंद्र सिंह
अरजी हमारी जो पै मरजी तिहारी है।।

यह भी कहा जाता है कि वृंदावन शतक काव्य की रचना उन्होंने वृंदावन में ही की थी। चंद्रशेखर वाजपेयी ने सम्मानपूर्वक आश्रित रहते हुए *हमीर हठ*, *रसिक विनोद*, *विवेक विलास*, *वृंदावन शतक*, *श्री गुरुभक्ति पंचाशिका*, *नखसिख* तथा *हरिभक्ति विलास* काव्यों की रचना की थी।

महाराजा नरेंद्र सिंह का तेरह नवंबर सन् 1862 ई. में पटियाला में निधन हो गया था। राज्य में ढाई महीने तक शोक मनाया गया।

इस बीच कवि शोखर के उन विरोधियों की बन आई थी जो नरेंद्र सिंह के शासन में कवि को मिले सम्मान से ईर्ष्या करते थे।

महाराजा नरेंद्र के पुत्र महेंद्र सिंह का पटियाला के सिंहासन पर 29 जनवरी सन् 1863 ई. में 10 वर्ष डेढ़ महीने की आयु में राज्याभिषेक हुआ था। राजा की अल्प वय के कारण शासन सूत्र अन्य अधिकारियों के हाथ में रहा। फलतः विरोधियों को कवि शोखर के विरुद्ध झूठी शिकायत करके षड्यंत्र रचने का अवसर मिल गया। कवि शोखर को जब कथित षड्यंत्र की जानकारी हुई तो उन्होंने महाराजा को न्याय हेतु प्रार्थना-पत्र दिया। इस प्रार्थना-पत्र में वादी और प्रतिवादी को सामने बुलाकर पूछताछ करने तथा असत्य आचरण वाले व्यक्ति को कठोर दंड दिए जाने की मांग कवि शोखर ने की थी। किंतु लगता है, कवि शोखर को फिर भी न्याय नहीं मिला। तदनंतर वे माघ बदी 1 संवत् 1919 वि. में किन्हीं केदारनाथ पंडित को लेने हरिद्वार गए थे। ये केदारनाथ पंडित कौन थे, कवि शोखर के साथ वे पटियाला आए थे अथवा नहीं। यह तो निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता, किंतु यह सत्य है कि महाराजा का निर्णय कवि शोखर के विरुद्ध ही हुआ था। इससे कवि शोखर के मन पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप वह पटियाला छोड़कर चले आए। कवि चंद्रशेखर वाजपेयी जब अलवर पहुंचे तो उस समय वहां सवाई शिवदान सिंह राज्य करते थे। अलवर दरबार में कवि शोखर ने महाराजा के समक्ष निम्न कविता का पाठ किया-

कुंद कपूर-सी कुंदन-सी ह्युति दिव्य बघंबर अंबर जोऊ।
भाल में चंद औ चंदन बिंदु लसै तन भूति विभूषित सोऊ।।
सेखर सुद्ध सुरासुर सेवित सिद्धि लहै सुख सो सब कोऊ।
श्री सिवदान नरस को संतत संकर-संकर-संकर दोऊ।।

शोखर कवि से उक्त कविता का पाठ सुनकर सवाई शिवदान सिंह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कवि शोखर को सम्मानपूर्वक अपने दरबारी कवियों ने सम्मिलित कर लिया।

कवि शोखर ने अपने अलवर आवास की अवधि में माधवानल कामकंदला के कथानक पर *श्री शिवदान विनोद* नामक प्रेमाख्यान काव्य की रचना की थी। यही नहीं, शृंगार रस के अपने उक्त अपूर्व प्रेमाख्यान काव्य का नामकरण कवि ने अपने आश्रयदाता के नाम पर ही किया है-

रच्यौ भूप सिवदान हित सुनि मानत जग मोद।
भयो नाम याते विदित श्री सिवदान विनोद ।।

कवि शोखर इसके बाद अलवर में कब तक रहे और क्या रचना की, इस विषय में जानकारी नहीं मिलती।

अलवर से कवि शोखर पुनः पटियाला गए और तब उन्होंने अलवर में रहे *शिवदान विनोद* को *माधवी बसंत* नाम से पटियाला में महाराजा महेंद्र के आश्रय में रचा घोषित किया था। पटियाला से उपलब्ध *माधवी बसंत* की पुष्पिका में उल्लिखित तथ्य इस संबंध में

ज्वलंत प्रमाण माना जा सकता है। देखिए-

इति श्रीमन् महाराजे राजगान श्री महाराजाधिराजेस्वर श्रीमहाराधिराज
श्री श्री श्री श्री श्री महाराजा महेंद्र सिंह आग्यानुगामी कवि चंद्रसेखर
विरचित माधवी बसंत कथानकम् समाप्तम् ।। शुभमस्तु ।। मिति फाल्गुन
बदी 1, संवत् 1923 वि.।

भातेदु हरिचंद्र से काशी में कवि शोखर की भेंट हुई। इस संदर्भ में निम्न तथ्य उपलब्ध हुआ है- जिस समय यह काशी कवि समाज भलीभांति अपना काम कर रहा था, उसी समय काशी में शोखर कवि का शुभागमन हुआ। कवि समाज ने उनका बड़ा स्वागत किया। स्वागत के पश्चात् उन्होंने पूछा, "हरिचंद्र कौन हैं?" जब बाबू हरिचंद्र जी सामने आए तब उनको देखकर कवि शोखर अत्यंत चकित हो गए। कहने लगे, "मेरा तो यह ध्यान था कि कोई वयोवृद्ध कवि होंगे। ये तो अभी निरे बालक हैं। इस अवस्था में ऐसे हैं तो आगे चलकर क्या होंगे।" उस समय कवि शोखर ने एक सवैया छंद रचकर सुनाया था। इसका एक निम्न चरण ही प्राप्त हुआ है-

वा हरिचंद्र कान सुनै अरु या हरिचंद्र।

संभव है, कवि शोखर अपने गांव मौजमाबाद भी उस समय गए थे और फिर वे पटियाला वापस आ गए हों।

सन् 1875 ई. में 77 वर्ष की आयु में कवि शोखर का निधन हुआ था। कवि शोखर के दो पुत्र थे। गौरीशंकर वाजपेयी और उमादत्त 'दत्त' कवि। रत्नाकर ने केवल गौरीशंकर वाजपेयी के विषय में ही उल्लेख किया है। आश्चर्य है कि रत्नाकर जी उनके भी जीवन वृत्त और कृतित्व के विषय में प्रकाश नहीं डाल सके। कवि शोखर के पुत्र उमादत्त वाजपेयी 'दत्त' जयपुर में झाली महारानी के निधन (संवत् 1981 वि.) के समय तक विद्यमान थे। बाद में वे कहाँ गए, उनका निधन कब और कहाँ हुआ- इस संबंध में जानकारी नहीं मिल सकी।

चंद्रशेखर वाजपेयी की अभी तक प्राप्त काव्य कृतियों का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

हमीर ठठ : यह वीर रस का एक श्रेष्ठ खंडकाव्य है। इसमें रणथंभौर के महाराणा हमीर देव का शरणागत की रक्षा हेतु अलाउद्दीन खिलजी के साथ हुए युद्ध का वर्णन बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है। राष्ट्रीय महत्व की इस अपूर्व काव्यकृति का प्रणयन कवि शोखर ने पटियाला नरेश नरेंद्र सिंह की आशा से उन्हीं के आश्रय में संवत् 1902 वि. में किया था।

अलाउद्दीन की सेना का एक भगोड़ा सैनिक अपनी प्राणरक्षा के लिए रणथंभौर जाकर महाराणा हमीर देव से निवेदन करता है:

मैं आया तेरी सरन तू अब लेहि उबारि।

उभै लोक तेरो विमल जस गैहै जुग चारि ।।

यह सुनते ही हमीर देव की भुजाएं पड़कने लगती हैं। उनके मन में उत्साह उद्बलित हो उठता है :

भुज फरकत हरषत सुनत सरनागत की बात।
बोले विहंसि हमीर तब उमंग न गात समात ।।

हमीर उवाच- छप्पय

उदै भानु पच्छिम प्रतच्छ दिन चंद प्रकासै ।।
उलटि गंग बरु बहै काम रति प्रीति बिनासै ।।
तजै गवरि अरधग अचल ध्रुव आसन चल्तै ।।
अचल पौन बरु होइ मेरु मंदिर-गिरि हल्लै ।।
सुरतरु सुखाय लोमस मरै संक मीर सब परिहरौ ।।
मुख पवन मीर 'हमीर' को बोलि न यह बहुरौ टरौ ।।

धन्य है वीर हमीर देव। उसके विषय में तो यह कहावत प्रसिद्ध है-

सिंह गमन सुपुरुष बचन कदली फलै इक बार।
तिरिया तेल हमीर हट चढ़ै न दूजी बार ।।

रणथंभौर से दिल्ली आकर दूत मोल्हण ने भी अलाउद्दीन को स्पष्टतः सब कह सुनाया। परिणामस्वरूप दोनों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। अपने सैनिकों को संबोधित करते हुए महाराणा हमीर कह उठते हैं:-

गौरी संभु तन परिहरै अचल मेरु चल होइ।
बोल्याँ बचन हमीर को चलनहार नहिं कोइ ।।
सिंधु चलै मरजाद तजि उलटै अवनि अनंत।
बोल्याँ बोल हमीर को सो नहिं बहुरि चलंत ।।
सरनागत पालन करै बरु बरतै सुचि नीति।
समर सस्तर सनमुख सहै यह छत्रिनि की रीति ।।
लखि दीननि को दुख हरै करै प्रजा पर प्रीति।
प्राण तजै पर काज को छत्रौ समर अजीति ।।

वीर हमीर आतंकपूर्ण भयंकर युद्ध से भयभीत अलाउद्दीन के सैनिकों को प्राण बचाने के लिए मोरचे से भागने पर विवश हो जाना पड़ा। युद्ध का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करने में चंद्रशेखर वाजपेयी सिद्धहस्त कवि हैं, इसमें संदेह नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस संदर्भ में लिखा है-

'उत्साह की उमंग की व्यंजना जैसी चलती स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीर रस के वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ितड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़कर उग्रोत्साह व्यंजक उक्तियों का ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया, जो वीर रस की जान है।'

रसिक विनोद : नायक-नायिका भेदोपभेद तथा रस के विभिन्न अवयवों से संबंधित यह एक लक्षण ग्रंथ है। इसकी रचना

कवि शोखर ने पटियाला में संवत् 1902 वि. में की थी।

सन् 1888-1889 ई. के आसपास रत्नाकर जी को पटियाला से जो काव्य ग्रंथ प्राप्त हुए थे, उनमें रसिक विनोद की हस्तलिखित प्रति भी थी। इसका संपादन करके बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने सन् 1894 ई. में इसे भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित कराया था। अब यह ग्रंथ दुर्लभ माना जा रहा है। रत्नाकर जी ने लिखा है कि रसिक विनोद की रचना कवि चंद्रशेखर वाजपेयी ने पद्माकर के जगत विनोद की जोड़ पर की थी। यह ग्रंथ जगत विनोद की तुलना में अधिक सुंदर और उत्कृष्ट है, इसमें संदेह नहीं है।

विवेक विलास : यह नीति और राजनीति विषयक सुंदर काव्य है। महाभारत के 'उद्योग पर्व' में वर्णित विदुर नीति के आधार पर इस ग्रंथ की रचना कवि शोखर ने पटियाला में संवत् 1905 वि. में की थी। ग्रंथ के कथ्य के विषय में कवि ने स्पष्ट कर दिया कि-

लच्छन पंडित मूढ़ के पुनि सत असत विवेक।
नीति कथा नृप रीति की यामें और अनेक।।

ग्रंथ में सम्मिलित राजनीति विषयक अन्य कथाओं की विषय वस्तु का सूत्र रचयिता ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है :-

महाबली नृप को सदा पंडित भलो विचारि।
कबहुं कियौ न चाहिए बलकर बरजत चारि।।
दोरघ सूत्र न कीजिए नहिं रहिए परतंत्र।
बिनु सम समर न कीजिए, लघु मति साथ न मंत्र।।

विवेक विलास नीति ग्रंथ का समग्र कथ्य कवि ने तेरह उल्लासों में विभक्त कर वर्णित किया है। यह काव्य यद्यपि अनूदित है तथापि मौलिक रचना जैसा आनंद प्रदान करता है।

श्री गुरुभक्ति पंचाशिका : सिखों के दसों गुरुओं के आध्यात्मिक और धार्मिक महत्व को स्पष्टतः रेखांकित करती हुई श्रीगुरुभक्ति पंचाशिका एक महत्वपूर्ण कृति है। कवि शोखर के जीवन काल में ही मंगसिर शुक्ल पंचमी संवत् 1875 वि. में यह गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित हुई थी। चंद्रशेखर वाजपेयी के कर्तृत्व पर शोध के दौरान मैंने यह प्रति अमृतसर में डा. देवेन्द्र सिंह विद्यार्थी के पास देखी थी। इस काव्य में वर्णित श्री गुरु गोविंद सिंह जी के भुजदंड तथा तेग वर्णन संबंधी निम्न कवित्त द्रष्टव्य हैं :

उद्धत उदंड जस मंडित अखंड बल
चंद्र खल खंडन निधान नित हेम की।
प्रबल प्रचंड परि दंडन दुजन दुख
उग्र खेत खड्ग को अधार धुरि खेम की।।
सेखर विसैस विस्व रच्छक विलच्छ छवि
दच्छ पच्छ पालक प्रतच्छ प्रभु प्रेम की।
सांचे बादसाह श्री गुरु गोविंद सिंह जू की
सुंदरी भुजा है कि भुजा है दिव्य हेम की।।

दोहे, कवित्त तथा सवैया छंद में रचित यह काव्य बहुत ही

सुंदर बन पड़ा है।

नख सिख : इस लघु काव्य कृति में राधा के नख-शिख सौंदर्य का वर्णन रीतियुगीन परंपरा पर बड़ा ही मनोहारी बन पड़ा है। नख सिख की रचना कवि शोखर ने संवत् 1914 वि. में पटियाला में की थी। मध्ययुगीन हिंदी आचार्य कवियों ने कटि का सौंदर्य उसके सूक्ष्म होने में माना है। ये कवि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाने की उड़ान भरते रहे हैं। कवि शोखर के नख सिख में कटि का वर्णन उक्त पद्धति पर बड़ा ही उत्कृष्ट बन पड़ा है।

रत्नाकर जी को पटियाला में गौरीशंकर वाजपेयी से मिली काव्य कृतियों में शोखर कृत नख सिख की हस्तलिखित प्रति भी सम्मिलित थी। इसे संपादित कर रत्नाकर जी ने सन् 1894 ई. में भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित कराया था। यह प्रति कवि शोखर के हाथ की लिखी बताई गई है। इसके संपादन और प्रकाशन के बाद हस्तलिखित प्रति तो कहीं सुलभ रहनी चाहिए थी, पर है नहीं। यह प्रति कहाँ गई, खोज का विषय है।

वृंदावन शतक : इस भक्ति काव्य की रचना दोहा छंद में हुई है। इसके 51 दोहे भारती भंडार, भाग-2 में संग्रहीत हैं। संपूर्ण काव्य प्रयास किए जाने पर भी अभी तक नहीं मिल सका है।

वृंदावन भूमि का महत्व चित्रित करते हुए कवि शोखर ने स्फुट छंद की भी रचना की थी। इस आशय का एक कवित्त मिला है-

कलित कदंब कुंज ललित लतानि छाए
कुंजन मलिन मंजु गुंजत धरन हैं।
केकन की काकली कापोतन के वृंद बने
बृंदारक बृंद जहां सेवन सरन हैं।।
सेखर सदैव जहां वृषभानु नंदिनी के
अर्द्ध नंद नंदन के अंकित चरन हैं।
भोद भरी भाग भरी भूरी अनुराग भरी
वृंदावन भूमि महा मंगल करन हैं।।

हरिभक्ति विलास : कृष्ण की भक्ति में रचित यह काव्य साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसका प्रणयन कवि शोखर ने पटियाला में महाराजा नरेंद्र सिंह के शासन काल में संवत् 1918-19 वि. में किया था। इसकी टंकित प्रति मुझे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से सन् 1974 में उस समय प्राप्त हुई थी जब चंद्रशेखर वाजपेयी के कर्तृत्व पर मेरा शोधकार्य चल रहा था।

हरिभक्ति विलास की रचना पद्मपुराण के पाताल खंड में वर्णित 'वृंदावन माहात्म्यम्' के आधार पर हुई है। पार्वती भगवान शंकर से जिज्ञासावश प्रश्न पूछती है और भगवान शंकर उसकी जिज्ञासा का समाधान करते हुए उत्तर देते हैं। संपूर्ण काव्य का कथानक इसी परस्पर संवाद के माध्यम से अग्रसर हुआ है।

मंगलाचरण के बाद काव्य का आरंभ इस प्रकार हुआ है-

दोहा

करत बात कैलास पै करुनाकरन महेश।
बिस्नु भक्तिभव भै हरति करत उभैहि उपदेस।।
एक रूप अंतर न कछु जो हरि तो वृषकेतु।
भये रूप है आप ही भजन भक्ति के हेतु।।

चौपाई

एक समै गिरिवर पै जाई।। बैठे प्रभु गज चर्म बिछाई।।
उमड़ों प्रेम सिंधु उर पावन।। लगे संभु श्रीपति गुन गावन।।
जै हरि बासुदेव जदुनंदन।। गोकुलनाथ गोप कुल मंडन।।

एक अनादि पुरुष जुकोई।। गावत बेद ब्रह्म कहि सोई।।
अलख निरंजन इच्छाधारी।। भयो नंद वृज कुंज बिहारी।।
सुरमुनि सिद्ध जासु गुन गावै।। चतुरानन कहुं अंत न पावै।।
भयो नंद जसुमति सुत जोई।। मेरो रच्छ देव हरि सोई।।

शंकर के मुख से यह प्रसंग सुनकर पार्वती की जिज्ञासा और उत्सुकता और बढ़ गई। वह शंकर भगवान से प्रार्थना करते हुए पुनः बोल उठीं।

पार्वती उवाच--

यह ईस निर्मित अखिल जे ब्रह्मांड कोटि अनंत हैं।
असथान अगनित बिस्नु के तिन माहिं भाखत संत हैं।।
तिन बिस्नु धामन में मनोहर विदित विस्व प्रधान जो।
जाते परे नहिं कृष्ण को प्रिय थल मनोहर जान जो।।
श्री नंदनंदन को मनोहर परम प्रिय असथान है।
याते परे नहिं और अदभुत भुक्ति मुक्तिन खान है।।
ताकी सकल महिमा महातम सुन्यौ चाहत नाथ मैं।
प्रभु कहिए दासी जानि तुम सरवग्य जोरति हाथ मैं।।

तेरह कलाओं में विभक्त यह काव्य कृष्ण भक्ति परंपरा के काव्यों में विशेष महत्व रखता है। अप्रकाशित रहने के कारण यह काव्य प्रचार-प्रसार नहीं पा सका है।

श्री शिवदान विनोद : कवि चंद्रशेखर वाजपेयी ने अलवर नरेश सवाई श्री शिवदान सिंह के आदेश से संवत् 1918-21 वि. की मध्यावधि में इस प्रेमाख्यान काव्य की रचना अलवर में की थी। यह काव्य माधवानल-कामकंदला के कथानक पर रचा गया।

श्री शिवदान विनोद शृंगार रस का एक सुंदर और उत्तम प्रेमाख्यान काव्य है। नृप गोपेंद्र चंद्र के आदेश से काव्य का नायक बसंत जब उनकी सभा में संगीत प्रस्तुत करता है तो उसे सुनकर सभी सभासद मंत्रमुग्ध हो उठते हैं।

नाद के रहस्य को जाने बिना उसे जड़ चेतन का हितकारक और रसायन नहीं कहा जा सकता। श्री शिवदान विनोद प्रेमाख्यान काव्य में कवि ने शृंगारपूर्ण वर्णन को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। इस काव्य में वीर रस को भी कवि ने शृंगार के अनुकूल ही

परिभाषित किया है।

कवि वियोग को सहन करने की स्थिति में नहीं लगते। वे तो और ही तरह से भगवान से प्रार्थना करते हैं-

सवैया-

है विनती यह ईश्वर सों कबहुं इहि जीव को जनम करै ना।
जो जनमे निज कर्मनि के बस तो फिर मानुष देह धरै ना।।
सेखर मानुष देह धरै तो धरै पर प्रेम के नेम अरै ना।
जो पर प्रेम के नेम अरै तिन को पल एक वियोग परै ना।।

स्फुट काव्य : चंद्रशेखर वाजपेयी ने समय-समय पर कुछ स्फुट छंद भी रचे थे। उनमें से कतिपय छंद हमें खोज में मिले हैं। प्रसंगवश इस लेख में आए छंदों के अतिरिक्त उनके कुछ छंद यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

कृष्ण भक्ति-

सेखर सदैव गुनी है अधीन राजन के
राजन को छिति के अधीन लेखियतु है।
छिति के अधीन पानी पानी के अधीन प्रान
प्रान के अधीन देह सांची पेखियतु है।।
देह के अधीन नेह नेह के अधीन नारी
नारी के अधीन हाव भाव सेखियतु है।
भाव के अधीन साधु साधु के अधीन भक्ति
भक्ति के अधीन कृष्णचंद्र देखियतु है।।

गुरु गोविंद सिंह की महिमा-

होते लीन धरम सुकरम विलीन होते
दीन होते जोग जप तप कौन करते।
छाई जाती जड़ता बिलाइ जाते वेद पथ
आस्रमन बरन विवेक सूझ परते।।
सेखर सकल लोक मति विपरीत होति
दसहुं दिसि दीह दीनता अनुसरते।
असरन सरन अनादि श्री गोविंद सिंह
भार को हरन अवतार जो न धरते।।

बसंत वैभव -

मंजरित मंजुल रसाल मन रंजित पै
गुंजरित बेलन बिहंग दरसत मैं।
सरस प्रसून परम लता परस पौन
भौन भौन रंगी उमंग सरसत मैं।।
सेखर प्रकास आस पास मैं पलास फूलें
ठौर ठौर मारे धुम धार सरसत मैं।
कंत बिनु कैसे भाग बिरही बचेंगे मैं
आग सी लगी है बन बागन बसंत मैं।।

तीन गीत : नईम

एक

रोते रहिए आप जनम भर
इस खोने या उस पाने को
'गोकुल' गांव नहीं सुनते तो
चलो सुनाने 'बरसाने' को!

मुझे लगे है, रोने वाला
यह स्वभाव पशुओं से बदतर,
थीं समर्थ माएं पर रोईं
मझधारों में 'करण' बहाकर

कहा गया आजीवन हमसे
गीत बनाकर दुख गाने को
महिमापंडित किया निरंतर
'सूरा', 'मीरा' हो जाने को!

रीते याकि भरे हों, लेकिन
हों प्याले नजरों के आगे,
कब सशर्त जी सके जिंदगी
मेरे जैसे लोग अभाग?

कोई नहीं कह रहा हमसे,
जीते जी ही मर जाने को,
जैसी की तैसी यह चादर
कबिरा जैसी धर जाने को!

खोटे सिक्कों से चोखे ये
देखा दूनम दून घिस गए,
धुन को चले पीसने थे जो,
खुद पाटों के बीच पिस गए

हर दिन देखा जीते जी ही-
बार-बार के मर जाने को
चाटेंगे क्या मर जाने के बाद
मिले यश, हरजाने को!

दो

वो उछाल देते हैं जब तब-
ताल-जलों में-
दो कौड़ी के फूहड़ मसले !

इसके लिए कहीं कोई कानून,
सजाएं नहीं मुकर्र
इजलासें सोई कुर्सी पर
गांठ रहे चालाक मुहर्रि

बड़े-बड़े हैं
मगरमच्छ ये-
कमजोरों पर किए जा रहे
चौकस हमले!

एक मुत्क ही है जिसकी ये
ऐसी-तैसी किए जा रहे,
मासूमों को मिला-मिलाकर
ऊंची-नीची दिए जा रहे

जरा गौर से देखें-
इनकी करतूतों को,
मांगे हैं हम रोटी,
वो परसे हैं असले!

बिना कहे यह कठिन
समय आया द्वारों पर
करते रहें भरोसा कब तक
मुर्दा वादे औ नारों पर

उठा खाट से-
भले लिटा दें ये धरती पर
रहें सजग,
इनका ही कोई नाग न डंस ले!

तीन

इन, उनके जैसा हो लेना
बहुत सरल है,
लेकिन अपने जैसा होना-
बहुत विरल है!

औरों से कुछ अलग तबीयत बूबासों में,
मुद्दत से रहते आए हम देवासों में
पैर टिकाए इस धरती पर ठीक तरह से-
विचरे हैं मनपाखी अपने आकाशों में

कंधे भले गैर के हों पर
अरथी पर अपनी सो लेना
कहां सरल है?

कभी नहीं थे ऐसे संकट पहचानों के
मेजबान के चेहरे लगते मेहमानों से
सुगढ़ शख्सियत के मानी कुछ और हो गए-
पशुओं से हो गए मूल्य कम इंसानों के,

गैरों की क्या बात करें हम
कंधों सिर अपना ढो लेना कहां सहल है?

घुन-सी जहां लगी हों चिंताएं होने की,
धरती फाड़ भविष्यों को क्रमशः बौने की
बना रहे क्रम ये जीवन का इसीलिए बस
करनी होगी पहल शादियों की, गौने की

भले न हों हम शहंशाह
अंतस में लेकिन अपने भी
ताजमहल है!

अमरत्व

जब समुद्र लहरों में लौटता है
शंख अपने अंदर पारावार रचते हैं
बहुत हाहाकार के बाद प्रेम
चुप लगा जाता है
मन शांत रहता है कुछ देर
फिर ऐसा कोलाहल मचता है कि
जीवन की सहज इच्छा
घोंघे की तरह
अपने खोल में दुबक जाती है
वहां भी क्या बचता है?
हम लौटते हैं
अपने पुराने घर की याद में
और बचपन के कपड़े छूकर
अचरज से भर जाते हैं
ज्वार उठता है तो कहते हैं
समुद्र अपनी लहरें नहीं तोड़ता
अपने सीने को आजमाता है
कि कब्त पड़ा तो
कितना सह सकता है वह
नियम है कि हर चीज टूटती है
घर, प्रेम, आदमी
फिर क्या है कि हम
बार-बार जुड़ते हैं
क्या अमरता हमारे ही
नाम लिखी है?

आत्मा की दीवार पर

वह लगाती है जैतून का तेल
चीन से लाया हुआ
एड्रियों पर हांगकांग का मोम
वह जनपथ से लेती है कपड़े
कमरे में तो केवल उसका एकांत
लिपटा रहता है उसके शरीर से
मुंह धोने में उसे आलस आता है

बिस्तर पर ही चाय पीते हुए
वह रोने लगती है
उसकी मेज पर
खूबसूरत डिब्बे में रहते हैं
प्रेमियों के पते छपे कार्ड
यह दूसरा सच है कि वह मानती है
प्रेम सिर्फ पहली बार होता है
उसके बाद खुद को सजा और अंत में
धीरे-धीरे समय की गुफा में धंसना
प्रेमहारी वह दफ्तर जाती है
तो थकी होती है
लौटने पर बिखरने को सिमटी हुई
तब गुस्सा
उसकी बिल्ली का नाम होता है
जो कल से मेरे पीछे पड़ा है
कमीज पर लिपटी उसकी गंध
छूट जाएगी
एक बार धोने पर
शरीर से छुटा लूंगा
उसके बैंगनी होंठ - नहाऊंगा जब
आत्मा की दीवार पर जरूर वह
चिपटी रहेगी
नई खाल पहनने तक...!

देह के इर्द-गिर्द

तुम्हारे लिए मर नहीं सकता
मरना तो देह का होता है
और देह को
घर के लिए बचे रहना है
कर्ज चुकाना है
लेना है नया उधार कि
वंशजों को जीने का बहाना मिले
समाज को इसी पर करने हैं अन्याय
इसी से सिद्ध करने हैं

प्रेम के निष्फल प्रयोग
इसी को ध्वस्त करते हुए
करनी है संपूर्ण जीवन की व्याख्या

कानून इसके सीने पर जलकर
प्रमाणित करेगा कि वह
बनाया तो
कमजोर की रक्षा के लिए था
पर क्या करें उसकी शक्ति
कुछ मजबूत मुद्रियों की
बंधक हो गई
इस देह का उपयोग उन्होंने भी
किया है अपने पक्ष में
जो हर जगह होते हैं
और कहते हैं कहीं नहीं हैं वे
उन्होंने भी इसका बहिष्कार नहीं किया
जो कोरमकोर निरगुनियां हैं

मार तो इसे कोई भी सकता है
और केवल तुम्हारे लिए भी यह
जीवित रह सकती है !

उसी दिन

एक दिन वह
मर भी नहीं सकेगी
सपनों में ही जन्म लेंगे उसके बच्चे
गोरे-चिट्टे, लाल बालों वाले

सपने में ही वह उन्हें करेगी बड़ा
और बूढ़ी हो जाएगी

सपना टूटेगा - पगला जाएगी
खुद को पाकर अकेली
एक दिन वह जन्म लेगी
और चाहेगी कि मर जाए
उसी दिन !

काफी हाउस

बाबा खड्गसिंह मार्ग पर स्थित
काफी हाउस में
आने-जाने वालों का क्रम
चहल-पहल
कभी खत्म न होने-वाले संवाद
अंतराष्ट्रीय मुद्दों पर बहसें
हमेशा की तरह इंतजार में खाली मेजें
और ख्वाबों का संसार फैला था
काफी हाउस में
हर किसी को गलतफहमी थी अपने बारे में
कि वह सर्वश्रेष्ठ
और सबसे महान आत्मा का मालिक है दुनिया में
और काफी हाउस में हर आदमी जिंदगी को
इस तरह बाहों में समेट लेना चाहता था
जैसे कोई जवान लड़की हो वह
जबकि जिंदगी का सफरनामा
और भविष्य का प्रश्न
लड़कियों को बाहों में समेट लेने की तरह
आसान नहीं था
और न मुमकिन ही।

बाबा खड्गसिंह मार्ग पर स्थित
काफी हाउस
जिंदगी खूबसूरत जिस्म
तितलियों के चमकीले पंखों की तरह
उम्मीदों
और उमंगों से भरपूर दिखाई देती थी
सवाल यह नहीं था काफी हाउस में
कौन थे आखिर लुम्बा के हत्यारे
किसने किया था
थ्येन आम मन चौक में छात्रों का दमन
और कौन था उत्तरदायी
बगदाद में बेकसूर बच्चों
समुद्र में मछलियों की हृदय
और ओकीनावा में छात्रा के साथ बलात्कार के लिए
सवाल इन प्रश्नचिह्नों का नहीं

सवाल यह था काफी हाउस में
क्या होगा इन मांसल पारदर्शी बांहों
और शहद के मानिंद होठों का
सौंदर्य की परिभाषा
और ख्वाबों की दुनिया का क्या होगा?

बाबा खड्गसिंह मार्ग पर स्थित
काफी हाउस में
इतनी सारी जगमगाती रोशनी
गहमागहमी
और कहकहों के बावजूद चेहरे
साझों की मेहराबों के मार
अदृश्य होते जा रहे थे, उदास
और कोई नहीं था इन्हें पहचानने के लिए
इस दुनिया में
और लगता था काफी हाउस में
जैसे सभी अजनबी हों एक-दूसरे के लिए
कोई संबल
कोई स्पर्श
कोई नहीं था साथ देने के लिए
उदास आकृतियों
लड़खड़ाती टांगों
लंबी होती जा रही परछाइयों
और आत्मप्रशंसा में लीन आत्माओं के अलावा
जो स्टोकेच के पात्रों की तरह
जीवित होने का अभिनय कर रही थी !

फ्लैट नं. एच 259

फ्लैट नं. एच 259 में
वस्तुएं अपनी जगह पर थीं
जहां उन्हें होना चाहिए था
साफ-सुथरी, स्वच्छ
आकर्षक और खूबसूरत वस्तुएं

ड्राइंग-रूम के एक कोने में रखे थे
काष्ठ के तीन बंदर
दीवार पर टंगा था
संथाल युवती का एक नयनाभिराम चित्र
मार्लिन मुनरो की एक अर्द्धनग्न तस्वीर

और आलमारी में सुसज्जित थी अनेक पुस्तकें
एजरा पाउंड और पाब्लो नेरूदा के काव्य-संग्रह

स्नानगृह में चमक रहा था बेल्जियम का आईना
नया तौलिया

सुगंधित साबुन खुशबू बिखेरते हुए
सौंदर्य के अनेक प्रसाधन
और पाउडर के कीमती डिब्बे।

सोने के कमरे में मसहरी पर बिछी थी सफेद चादर
गर्म और मुलायम कंबल का स्पर्श
बांहों का मादक संसार, मद्धिम रोशनी
अगरबत्ती की महक और संगीत की मोहक धुनें

मेज पर सजी थी
खाने की स्वादिष्ट वस्तुएं
पत्रिकाएं जिन्हें कोई पढ़ता नहीं था
और चेहरे थे जो वस्तुओं के संसार में
खो चुके थे अपनी पहचान
जिजीविषा
और अहमियत

वस्तुओं के मायावी संसार में
जिंदगी का साथ देने के लिए सब-कुछ था
अगर कुछ नहीं था तो
मोरपंखों की तरह नाचता हुआ
कोई मुग्धकारी दृश्य
मनुष्य का स्वयं
प्रकृति
या जीवन से कोई अंतरंग संवाद

फ्लैट नं. 259 में
जिंदगी का साथ देने के लिए सब कुछ था
खुशियों से भरा घर का माहौल
अतीत की स्मृतियां
भविष्य के सुनहले ख्वाब और कहकहे
सब कुछ था मनुष्य की अंतरात्मा के सिवा
फ्लैट नं. 259 में वस्तुएं अपनी जगह पर थीं
जहां उन्हें होना चाहिए था
साफ-सुथरी, स्वच्छ
आकर्षक और खूबसूरत वस्तुएं !

दो गजलें : केवल गोस्वामी

एक

हर घड़ी फूल-सी ये देह जलानी होगी
सिर पे जब आन पड़ी है तो निभानी होगी
कम वो दूढ़ंगे सड़कों पे तेरे कदमों के निशां
उनकी आंखों में कोई याद पुरानी होगी
लब पे फरियाद न आंखों में हो अशकों की लड़ी
इस तरह ही तुझे ये रात बितानी होगी
जब भी खनकेंगे ये महफिल में छलकते प्याले
गमजदा होठों पे तेरी ही कहानी होगी
कहकहे बांटने आएंगे सभी लोग मगर
किस को मालूम तेरे दिल की विरानी होगी
आह कोई न लरज जाए हवाओं में कहीं,
दिल की हालत ये जमाने से छिपानी होगी
फड़फड़ाएंगे हवाओं में किताबों के वरक
उनमें पोशीदा कोई तेरी निशानी होगी !

दो

रुखसत से पहले जीस्त से दो-चार तो हो ले
ए दिल जरा उस कूचे से इक बार तो हो ले
ये आग का दरिया न जला दे किसी का घर
इसको समेट ले जरा सीने में समो ले
जल जाए न यारो ये कंवल अतिशो गम से
इस कंवल को बहते हुए अशकों में डुबो ले
मिट जाएगी जो बात सियाही से लिखी है
इस कलम को अब खून के दरिया में डुबो ले
सूखे हुए पत्ते जो मरे साथ चले थे
इन पत्तों के सिरहाने जरा देर को सो ले
तपते हुए सहाराओं से है होके गुजरना
पांवों के लिए बर्फ के कुछ ख्वाब संजो ले !

प्रगति, प्रतिबद्धता और प्रतिक्रिया

दार्शनिकों ने जीवन की अनेक रूपों में व्याख्या की है। इसके अलावा उन्होंने जीवन और समाज में घटित होने वाले क्रिया-व्यापार को भी अपनी-अपनी तरह से परिभाषित किया है। इसी क्रम में उन्होंने प्रगति, प्रतिबद्धता और प्रतिक्रिया के बारे में भी समीक्षा की है। इन विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण कर रहे हैं प्रकाश सत्येन नटराजन

प्रगति मानवीय गतिविधियों और संबंधित घटनाओं का इस प्रकार संपादित होना है कि वे किसी विशेष दृष्टिकोण के संदर्भ में समाज और उसके सदस्यों के लिए जीवन और सुख का संदेश देती प्रतीत होती हों। इसे प्रगति की दृष्टिकोणमूलक या प्रत्ययात्मक अवधारणा कह सकते हैं जिसका आधार सामाजिक या भौतिक स्तर पर किसी तथ्यात्मक या ऐतिहासिक अवधारणा से मुक्त रहना है। इस प्रत्ययात्मक अवधारणा के दो तत्व हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है।

पहला तत्व जीवन है। यह विभिन्न प्रकार के शरीरों का गुण है, जिसके आधार पर किसी विशेष शरीर को जावित या मृत देखा जा सकता है। जीवित शरीर में स्वचालन की क्षमता होती है, जिसे प्रत्यक्षतः समझने में कोई कठिनाई नहीं है, परंतु इसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए कुत्ते के जीवित शरीर में भौंकने का गुण है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि एक दिन बाद प्रातः सात बजे कुत्ता भौंकगा या नहीं। यह भविष्यवक्तृत्वहीनता एक जीवित शारीरिक स्वायत्तता में उद्भूत है, लेकिन साथ ही यह सांसारिक स्वायत्तता का भी एक अंग है और यहां तक कि उसका प्रतिफल है, जो भविष्यवक्तृत्वहीनता के कारण स्वतंत्र और निर्बाध है। सांसारिक और शारीरिक स्वतःस्फूर्त स्वायत्तता का आधार किसी नियमबद्ध व्यवस्था की अनुपस्थिति अथवा अज्ञान पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, या तो नियमबद्धता है नहीं और यदि है तो उसे जाना नहीं जा सकता और यदि उसे जाना नहीं जा सकता तो इसके नतीजतन किसी बड़ी सच्चाई का बखान भी नहीं किया जा सकता। सत्यान्वेषण या ज्ञान यथार्थ के सत्य की उद्घोषणा मानवीय चेतना और भाषा का क्रियाकलाप है, जो स्वयं में मनुष्य की संज्ञान प्रक्रिया का फल है, जिससे स्वतंत्र उसका अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से कुत्ते की किसी विशिष्ट दिक्काल में भौंकने की भविष्यवाणी करना शरीरक्रियात्मक निर्मित सत्य की परिधि के बाहर है। फिर भी भौंकने की घटना का सामान्य या आवश्यक आधार शरीर में जीवन का गुण निहित होना है। जिस तरह लोहे को गरम करने पर उसका रंग लाल हो जाता है, उसी प्रकार भौतिक पदार्थों के विशेष संगठन और अवस्था में आने के फलस्वरूप

उसमें जीवन के गुण उद्भूत होते हैं। जिस तरह गरम हुए लाल लोहे को पानी में डुबाने के बाद उसका लाल रंग गायब हो जाता है, उसी तरह किसी शरीर में गोली मारने से या उसके अंदर जहर पहुंचाने से उसके जीवन का गुण नष्ट हो जाता है। आत्मा या आध्यात्मिक अस्तित्व मनुष्य की जन्मजात जिजीविषा का परिणाम है जिसके अनुसार मूलतः मनुष्य जिंदा रहना चाहता है और मरने से घबराता है। आध्यात्मिक अस्तित्व के विचार को निर्मित सत्य के विचार से सजाया और परिपूर्ण किया जा सकता है, परंतु दोनों ही प्रकार के अस्तित्वों का 'निर्माण-तत्व' एक समान है।

किसी गुण के लिए पदार्थ होना अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवन के लिए शरीर होना अनिवार्य है। यह अनिवार्यता संज्ञान प्रक्रिया का गौण उत्पादन है जो इस प्रक्रिया के माध्यम से संसार को विभिन्न रूपों में विभाजित कर पहचानती है जिस संसार का संपूर्णत्व किसी भी संज्ञान से परे है। इसके विपरीत विशिष्टता पूरी तरह प्रासंगिकता पर आधारित है जो मनुष्य के भाषाई और सामाजिक अस्तित्व द्वारा सामान्यतः निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए, दो व्यक्तियों में मारपीट की घटना विशिष्टत्व से परिपूर्ण है, जिसकी जांच करने से बहुत-से तथ्य पता लग सकते हैं जिनसे इस घटना को समझा जा सकता है। इस घटना के विशिष्टत्व के परीक्षण के माध्यम से इस घटना की प्रासंगिकता भी पता चल सकती है। इस प्रासंगिकता के विपरीत इस घटना की अनिवार्यता अपेक्षाकृत निस्सीम संसार को ससीम परिदृश्य में उद्घोषित करती है। मैंने 'अपेक्षाकृत' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि निस्सीम की उपस्थिति का आभास मात्र ही इस संदर्भ में पर्याप्त है। निस्सीम की संपूर्ण उपस्थिति या अभिव्यक्ति संभव नहीं। जाक लैंका इस निस्सीम को 'यथार्थ' की संज्ञा देते हैं, जो मनुष्य की प्रतीकात्मक और काल्पनिक शक्तियों से न केवल मूलतः बाहर है, पर उसकी इस 'यथार्थ' की मानवीय चेतना में 'न घुलने वाली' उपस्थिति विध्वंसकारी भी है। भारतीय दर्शन में निस्सीम के प्रति इस प्रकार का कोई दुराग्रह तो नहीं है, लेकिन इसमें संसार की संज्ञानात्मक रचना का निस्सीम से कोई तादात्म्य दिखाई नहीं देता। अथवा इस पूरे मामले को रहस्यवाद के अंधेरे में धकेल दिया

गया है। इस संदर्भ में साधारण-सी मारपीट की घटना की एक तो प्रासंगिक परिभाषा है, जिसको सामाजिक और भाषागत माध्यम और संदर्भ में समझा जा सकता है, पर इससे इस घटना का निस्सीम आयाम ज्यों का त्यों बना रहता है, जिसकी 'परिप्रेक्ष्यहीन प्रासंगिकता' तो समझी जा सकती है, जिसे किसी दूसरे परिप्रेक्ष्य की तलाश है, परंतु इस घटना का निस्सीम से रिश्ता पूरी तरह परिप्रेक्ष्यहीन और अनिवार्य बना रहता है। दो व्यक्तियों के बीच मारपीट के लिए पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण इस घटना को समझने के लिए जरूरी नहीं है, लेकिन किसी दूसरे संदर्भ में यह ज्ञान की परिधि के अंतर्गत 'प्रतीत होता है,' यद्यपि गुरुत्वाकर्षण मारपीट की घटना के लिए अनिवार्य है। निस्सीम विशुद्ध अनिवार्यता का प्रतीक है जिसके बिना संज्ञान प्रक्रिया, चाहे वह किसी भी स्तर पर हो, संभव नहीं और इस घटना के संदर्भ में 'गुरुत्वाकर्षण' इस ज्ञेय परिप्रेक्ष्यहीनता का छोटा-सा नमूना है। दूसरे शब्दों में, मारपीट की इस घटना को समझने के लिए गुरुत्वाकर्षण के नियम की जानकारी जरूरी नहीं है, जबकि गुरुत्वाकर्षण के नियम का क्रियान्वयन इस घटना के लिए जरूरी है। अनिवार्यता निस्सीम का प्रस्तुतीकरण है, जो अपने आप में चेतना और भावों से रहित निर्गुण और उदासीन है, पर जिससे विशिष्ट प्रासंगिकता से परिपूर्ण अस्तित्वों या घटनाओं की स्वायत्तता बाधित नहीं होती।

जिस परिमाण में शरीर जीवन का आवश्यक पदार्थ है, उसी परिमाण में जीवन सुख के गुण को ग्रहण करने वाला पदार्थ है। स्वर्गीय सुख की परिकल्पना, जो मरणोपरांत है, का आधार भी शरीरेतर आत्मा के पदार्थत्व पर निर्भर है जिसका मतलब है कि इस परिप्रेक्ष्य में सुख मात्र गुण है, पदार्थ नहीं। लेकिन देखने में आता है कि पदार्थ में अनिवार्यता का अंश रहते हुए भी यह उद्देश्यमूलक संस्कृति का उतना महत्वपूर्ण मूल्य नहीं बन पाता, जितना कि मात्र प्रासंगिकता से परिभाषित गुणात्मक मूल्य या अवधारणा। जीवन निरर्थक, दुखी और हानिकारक भी हो सकता है, लेकिन मानवीय अभिलाषा सुखी जीवन के लिए ही रहती है, न कि निर्गुण और उदासीन निस्सीम अनिवार्यता के लिए। इस अभिलाषा का दूसरा स्वरूप एक उद्घोषित ग्राह्य मनःस्थिति के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है। मनःस्थिति से तात्पर्य फ्रायड की शब्दावली में पूर्वचेतन और चेतन का संयोग है, लेकिन अचेतन का 'ग्राह्यता' के संदर्भ में सीधे रूप में कोई योगदान नहीं है। इसके अलावा इस ग्राह्यता का सीधा संबंध भविष्य से है न कि वर्तमान या भूतकाल से और मानवीय प्रासंगिकता के संदर्भ में भविष्य का सबसे प्रमुख गुण उसका अज्ञेय एवं भविष्यबक्तृत्वहीन होना है, क्योंकि निस्सीम का विशुद्ध और स्वायत्त तत्व भविष्य की अनुपस्थिति में निहित है। मानवीय कर्म या सांस्कृतिक रचनाधर्मिता विरोधी या उदासीन निस्संगता को भेदकर मूल्यों के सृजन और उनमें आस्था के रूप में परिलक्षित होती है जो अंततः जीवन और सुख के चरम मूल्यों या उद्देश्यों पर आधारित हैं।

इस सुख की अवधारणा सकारात्मक और नकारात्मक दोनों है। सुख की सकारात्मक अवधारणा के अनुसार सुख वास्तविक और स्वाभाविक मनःस्थिति है जो अवास्तविक और अस्वाभाविक अज्ञान

के कारण भुला दी गई है। अतः विशुद्ध ज्ञान में नया कुछ नहीं है; ज्ञान मात्र भूले हुए को याद करना है। सुख की इस आध्यात्मिक अनुभूति को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, परंतु हमारे दृष्टिकोण से इसकी ग्राह्यता को भाषा एवं अन्य धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से भली भाँति अभिव्यक्त किया जा सकता है। सुख की नकारात्मक अवधारणा के अनुसार सुख स्वयं में स्वायत्त, स्वतःस्फूर्त और निर्बाध नहीं है, अपितु वह बुद्धि कौशल और परिश्रम से प्राप्तव्य साधनों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। विभिन्न धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराओं में भी शरीरेतर आध्यात्मिक सुख, स्वर्ग अथवा मोह प्राप्ति को प्रायः या तो मनुष्य प्रयत्न का फल माना गया है या ईश्वरीय दया का, और कभी-कभी दोनों के संयोग को भी इसके लिए आवश्यक समझा गया है, पर वर्तमान विश्लेषण के संदर्भ में सकारात्मक और नकारात्मक सुख की अवधारणाओं में महत्वपूर्ण अंतर है जो दो विभिन्न विश्व-दृष्टिकोणों में उद्भूत है। फिर भी दोनों ही विश्व-दृष्टिकोणों का एक भाव समान है और वह यह कि किसी न किसी कारण मनुष्य दुखी है और उसे दूर करना जरूरी है। मुझे ऐसा लगता है कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर और पूरक हैं। कांट की उपमा उधार लेते हुए कहा जा सकता है कि उड़ते हुए पक्षी को हवा का घर्षण होना बाधा लग सकता है, यद्यपि उसकी उड़ान के लिए यह घर्षण आवश्यक है। जहां सुख प्राप्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को अवास्तविक माना जाएगा, वहां मानवीय गतिविधि और संबंधित घटनाओं का महत्व गौण हो जाएगा। यदि प्रगति के विचार को सकारात्मक या आध्यात्मिक सुख के विचार से जोड़ा जाए, तो प्रगति का अर्थ भौतिक सुख-साधनों में अभिवृद्धि नहीं हो सकता, अपितु मात्र ऐसी चेतन गतिविधियों या प्रयत्नों का ही महत्व है, जो अवास्तविक मायाजाल को हटाकर आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति दिला सकते हैं।

इस दृष्टि से यथार्थ स्थिर और ज्ञेय है और अस्तित्व से परिपूर्ण है, अतः प्रगतिशील परिवर्तन का अर्थ इस यथार्थ की अनुभूति ही है जो भाषा और यथार्थ को अस्तित्व से परिपूर्ण पाता है और उसे ऐतिहासिक रूप से विकसित वैज्ञानिक सत्यान्वेषण के माध्यम से ज्ञेय भी पाता है। पर वह संसार के मूल स्वरूप को आध्यात्मिक नहीं मानता और न ही पूरी तरह निर्जीव भौतिक पदार्थ, अपितु संसार भौतिक पदार्थ का उत्तरोत्तर संश्लिष्ट रूपों में विकसित होना है, जिसका एक गौण उत्पादन जीवन और चेतना भी है। यहां अध्यात्मवादियों और मार्क्सवादियों दोनों ही के चिंतन में एक अद्भुत समानता परिलक्षित होती है, और वह है, यथार्थ का अस्तित्व से परिपूर्ण होना और इसका ज्ञेय होना जिसके कारण दोनों ही विचार प्रणालियों को सामाजिक प्रभुत्व और शक्ति व्यवस्था का पोषक और अंततः इस कारण 'तत्त्वमीमांसात्मक' या 'ऑटोलेगिजल' कहा जा सकता है।

इस संदर्भ में मार्क्सवादी विचार में कुछ मूलभूत खराबियां हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। मार्क्सवादी प्रगति के दो रूप उपलब्ध हैं। एक रूप का प्रतिपादन लूई अलथूसर या उसके पूर्व लेनिन, ट्रौट्स्की

जैसे मार्क्सवादी करते प्रतीत होते हैं और दूसरे उदारपंथी रूप का-
फ्रैंकफर्ट विचार प्रणाली के लोग। कट्टरपंथी मार्क्स की 1850 के
बाद की रचनाओं पर जोर देते हैं, जबकि उदारपंथी 1850 के पूर्व की
रचनाओं को अधिक महत्व देते हैं। सामान्यतः मार्क्स यह कहते प्रतीत
होते हैं कि विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाएं और विचार
सामाजिक उत्पादन प्रणाली से निर्धारित होते हैं। इस सामाजिक उत्पादन
प्रणाली के दो भाग हैं। पहला भाग है उत्पादन का भौतिक और तकनीकी
स्वरूप जो प्राकृतिक साधनों और उपलब्ध तकनीकों पर आधारित है।
दूसरा भाग इस भौतिक उत्पादन के फलस्वरूप व्युत्पन्न मनुष्यों के आपसी
संबंध हैं जिन्हें उत्पादन प्रणाली के सामाजिक संबंध कहा जा सकता
है और जिनका एक महत्वपूर्ण अंग उत्पादन के साधनों का स्वामित्व
भी है जो एक प्रकार से ऐतिहासिक विकास के एक स्तर पर और
तदनंतर उत्पादन के सामाजिक संबंधों को एक इतिहासबद्ध परिभाषा
प्रदान करते हैं। यह सर्वविदित है कि मार्क्स ने सीधे रूप में इस समस्या
की कोई रूपवादी प्रस्तुति नहीं की है और पूंजी के प्रथम खंड की
भूमिका में भी उन्होंने अपने मूल विचार को एक समीक्षक के शब्दों
में उद्धृत किया है, जिससे लगता है कि मार्क्स इस मामले में कुछ
भी सुस्पष्ट कहने से हिचकते थे। उनकी इस हिचकिचाहट का होना
अब स्वाभाविक लगता है, क्योंकि इस विचार में गंभीर अंतर्विरोध है
और ये स्वयं मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली का अनुसरण करने से और
अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

विभिन्न सांस्कृतिक संरचनाओं का आधार उत्पादन प्रणाली पर
निर्भर होना माना गया है, परंतु उत्पादन प्रणाली के दो अंगों में संबंध
और विरोध को समझना आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं
कि उत्पादन प्रणाली का पहला भाग जिसे सामाजिक उत्पादन शक्तियों
का नाम दिया गया है, वह दूसरे भाग- जिसे उत्पादन संबंध कहा जा
सकता है, से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह अपेक्षाकृत अधिक
गतिशील है, जबकि दूसरा भाग अपने आप में न तो उतना गतिशील
है, बल्कि अपनी गतिहीनता के कारण वह सामाजिक उत्पादन प्रणाली
में गतिरोध उत्पन्न करता है, जिसके कारण सामाजिक उत्पादन में कमी
होती है।

यहां मूल प्रश्न यह है कि सामाजिक उत्पादन शक्तियों को संचालित
या नियमित करने वाला कौन है? मार्क्स इस प्रश्न का कोई उत्तर देते
प्रतीत नहीं होते, पर उनकी तरफ से कहा जा सकता है कि मानवीय
चेतना का विशुद्ध स्वरूप सामाजिक चेतना है, जो सामाजिक उत्पादन
से जुड़ी हुई है, पर चेतना 'उद्देश्यमूलक रूप से रचनात्मक' है अथवा
सामाजिक चेतना का विकास उसी स्तर पर हो सकता है, जिस स्तर
पर सुस्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष या परिभाषित समस्याएं सामने आती हैं।
इस दृष्टि से सामाजिक चेतना उत्पादन शक्तियों के विकास की समस्याओं
को सुलझाने की प्रक्रिया है, जो जीवित और चेतना मानवीय शरीरों के
अस्तित्व के बिना संभव नहीं है, परंतु जो 'घटना' प्रकृति के अधीन
है। इस संदर्भ में मार्क्सवादी प्रगति की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी
जा सकती है: वे सब मानवीय कर्म और विचार प्रगतिशील हैं, जो
सामाजिक उत्पादन शक्तियों के विकास या उनके अधिकाधिक सामाजिक

उत्पादन के अनुरूप हैं या उनमें सहायक हैं। इस विचार को और अधिक
उग्र रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है : वे कर्म और विचार प्रगतिशील
हैं जो सामाजिक उत्पादन शक्तियों के विकास में प्रभावोत्पादक योगदान
करते हैं। आधारभूत सामाजिक उत्पादन प्रणाली एवं समस्त समाज की
प्रगतिशीलता ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार विभिन्न सामाजिक
संरचनाओं एवं विचार प्रणालियों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। यदि
अरस्तू दास प्रथा का समर्थन करते हैं तो जिस सीमा तक दास-स्वामित्व
पर आधारित सामाजिक उत्पादन प्रणाली यूनानी समाज के ऐतिहासिक
विकास के संदर्भ में अधिकतम उत्पादन प्रदान कर सकती है, उस सीमा
तक दास प्रथा का समर्थन एक प्रगतिशील कदम है। आर्थिक समानता
का सामाजिक उत्पादन प्रणाली के सामान्य विचार से कोई मतलब नहीं
है।

मार्क्सवादी संदर्भ में सामाजिक उत्पादन शक्ति का आधार मानवीय
श्रम है, जो चेतन कर्म की ही एक 'उद्देश्यमूलक' अभिव्यक्ति है।
उद्देश्यमूलक मानसिक या शारीरिक श्रम या कर्म से अभिप्राय है कि
या तो यह उद्देश्य से परिसीमित है या यह एक ही क्रिया को बार-बार
दोहराकर आदत में परिवर्तित करने पर आधारित है। इसमें उद्देश्यहीन
चिंतन या गतिविधि का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। साथ ही मार्क्सवादी
विचार में यह बात भी अनिवार्य रूप से निहित है कि अधिकाधिक
सामाजिक उत्पादन 'सभी' ऐतिहासिक उत्पादन प्रणालियों के संदर्भ में
ग्राह्य हैं, जो स्वयं में उन्नीसवीं शताब्दी के अनुभववादी और तथाकथित
वैज्ञानिक 'त्साइटागाइस्ट' या युगबोध का प्रतिफल है। इस दृष्टिकोण
में तीन खराबियां हैं, जिनमें पहली दो तो समकालीन सामाजिक परिस्थिति
में व्यावहारिक स्तर पर दिखाई देती है, पर तीसरी सैद्धांतिक और
सार्वभौमिक स्तर पर है।

1. मात्र सामाजिक उत्पादन की अभिवृद्धि सर्वांगीण प्रगति की
द्योतक हो, यह आवश्यक नहीं। इक्कीसवीं शताब्दी की शायद दो
सबसे महत्वपूर्ण समस्याएं रहेंगी- पर्यावरण की रक्षा और जनसंख्या
नियंत्रण जिसका व्यावहारिक मतलब है कि लोग धन के उपयोग में
कमी लाएं और बच्चे कम पैदा करें। इस प्रकार इक्कीसवीं शताब्दी
की प्रगतिशील सामाजिक उत्पादन प्रणाली कुछ ऐसी होनी चाहिए जो
सामाजिक उत्पादन तो कम करे पर पर्यावरण की सुरक्षा अधिक। इसी
प्रकार मनुष्येतर जीवों या सृष्टि के प्रति सकारात्मक या दया का भाव
मार्क्सवादी सामाजिक उत्पादन प्रणाली में गायब है, पर भविष्य में ये
सर्वाधिक महत्व के मुद्दे होने जा रहे हैं। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष की
कल्पना में युद्ध और हिंसा का भाव निहित है, जो उन्नीसवीं शताब्दी
की परिस्थितियों में व्यावहारिक था पर आज की परिस्थिति में युद्ध
और हिंसा पर्यावरण के महाशत्रु हैं और जिनके माध्यम से युद्धरत वर्गों
या राष्ट्रों के बहुत अधिक संसाधन बर्बाद होते हैं।

2. अगली सदी में व्यक्तियों और उनके समूहों की स्वायत्तता
का सर्वाधिक महत्व होगा। 1950 के पूर्व के विश्व में पाश्चात्य सभ्यता
और विचार-प्रणालियों का बोलबाला रहा है, परंतु आज के युग में

बहुसंस्कृति और बहुअभिव्यक्ति का महत्व अधिकाधिक है, जिसका अर्थ है कि कोई विचार, दृष्टिकोण या प्रणाली एक पूरे सामाजिक घटनाक्रम की या मनुष्य की समस्त सांस्कृतिक और बौद्धिक गतिविधियों की नियामक नहीं हो सकती। वास्तव में मार्क्स के सामाजिक उत्पादन प्रणाली के विचार की कुछ प्रासंगिकता प्रागैतिहासिक समाजों के लिए अवश्य है जहां मनुष्य का समस्त व्यवहार उद्देश्यमूलक चिंतन प्रक्रिया पर आधारित है, क्योंकि वहां मानवीय उत्तर प्रश्नों से पूरी तरह परिसीमित हैं जिससे समस्त मानवीय गतिविधि को एक सीमित प्रश्नोत्तर प्रक्रिया में बांधा जा सकता है। परंतु आज के युग में मनुष्य की गतिविधियां और चिंतन प्रणालियां विविध और एक गहरे रूप में स्वायत्त हैं, जिनका विशिष्टता किसी विशेष सामाजिक उत्पादन प्रणाली से कोई संबंध नहीं है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में तर्कशास्त्र और गणित के बीच गहरा रिश्ता कायम किया गया, तो क्या यह तत्कालीन यूरोपीय सामाजिक उत्पादन प्रणाली का फल था? कहने की जरूरत नहीं कि इसमें 'हां' कहना मूर्खतापूर्ण होगा।

3. मार्क्स का सामाजिक उत्पादन शक्ति का विचार मनुष्य की उद्देश्यमूलक चिंतन प्रक्रिया पर आधारित है, जिसे दोहराने जाने वाली गतिविधि या श्रम के रूप में समझा जा सकता है। प्रागैतिहासिक समाजों और प्रारंभिक सभ्यताओं के विकास में इस प्रकार के श्रम के महत्व को मान्यता दी जानी चाहिए, यद्यपि एक सीमित क्षेत्र में एक ही समय में सांस्कृतिक उत्पादनों में काफी विविधता दिखाई पड़ सकती है जिस विविधता को एक ही सामाजिक उत्पादन प्रणाली के विचार से समझा नहीं जा सकता। परंतु समाज के विकास के उच्चतर सोपानों में अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्ट तकनीकों का विकास होता है, जो एक प्रकार के निर्बाध या निरुद्देश्य चिंतन पर आधारित हैं। परंतु भविष्य में तकनीकें मात्र निरुद्देश्य चिंतन के प्रतिफल को उद्देश्यमूलक व्यवहार में लाने की प्रक्रिया पर आधारित होगी, न कि स्वयं चिंतन को उद्देश्यमूलक विचार प्रणालियों से नियमित और बाधित करने पर, जिसमें 'स्वायत्तता और निरुद्देश्यता' का भाव निहित है। पर यहां यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आता है कि अंततः गतिशील सामाजिक उत्पादन शक्तियां स्वयं एक गतिशील, निर्बाध, निरुद्देश्य, स्वायत्त और स्वतंत्र चिंतन के प्रतिफलों के व्यवहारोपकरण पर आधारित हैं, जिससे कि उत्पादन तकनीकों और व्यवस्थाओं का जन्म होता है, पर तब इस स्वतंत्र चिंतन का नियामक सिद्धांत क्या है? यह चिंतन शरीर के विशिष्ट अंग-मस्तिष्क से अस्तित्व में आता है, पर इसकी विशिष्ट प्रक्रिया को किसी पूर्वनिर्धारित करने वाले सिद्धांत द्वारा जाना नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, कुत्ते के भौंकने की प्रक्रिया को शरीरक्रिया विज्ञान के द्वारा समझा जा सकता है, पर यह कुत्ते के भौंकने की स्वायत्त निर्णयशक्ति को बाधित नहीं करता।

हम कह सकते हैं कि आधुनिक सामाज में सामाजिक उत्पादन शक्ति अथवा प्रणाली विशिष्ट और विभेदीकृत मौलिक चिंतन में उद्भूत होती है, जो स्वयं में स्वायत्त प्रासंगिकता से परिपूर्ण होने के बावजूद अप्रत्याशित रूप में संसार की अनिवार्यता से जुड़ा हुआ है और जो उसे विलक्षण

और चमत्कारिक बनाता है। मार्क्सवादी सामाजिक उत्पादन प्रणाली के विचार को यदि सही माना जाए जिसका आधार परिभाषित और उद्देश्यमूलक चिंतन और श्रम है, तो सामाजिक उत्पादन प्रणाली न केवल स्थिर हो जाएगी, बल्कि पिछड़ भी जाएगी। मार्क्स के चिंतन की ये कमियां उन्नीसवीं शताब्दी के युगबोध की कमियां हैं, जिसमें अनुभव, तथ्य और विज्ञानवाद के अंधविश्वास की पकड़ बहुत मजबूत है और जिस अंधविश्वास से मार्क्स आजाद नहीं हैं। तदनुसार मार्क्स में विद्वत्ता की बहुतायत है, पर परिकल्पना की कमी; जिसकी पूर्ति वह हेगेल के दर्शन से करते हैं। मार्क्स के अनुसार इस दृष्टिकोण से प्रतिबद्धता प्रगतिशील शक्तियों या विचारों के प्रति होनी चाहिए जिनकी प्रगतिशीलता सामाजिक उत्पादन प्रणाली के विशिष्ट स्वरूप से निर्देशित रहती है।

वास्तव में प्रतिबद्धता अस्तित्व, ज्ञान या विश्वास से मनुष्य के कर्म और विचारों का निर्देशित या पूर्वनियोजित होना है। यहां अस्तित्व और यथार्थ को समानार्थक समझा जाना चाहिए जिसमें अस्तित्वहीनता शामिल है। अस्तित्व ज्ञानेंद्रियों के संवेदन में निहित है जो बिना संरचना या आकृति के संवेदनीय नहीं हो सकता। यथार्थ, अस्तित्व, ज्ञान और विश्वास मनुष्य चेतना के एक ही घटनाक्रम के विभिन्न पहलू हैं, परंतु यह आवश्यक नहीं कि किसी चेतन घटनाक्रम में ये सभी पहलू एक समान रूप में या किसी स्थिर अनुपात में अवस्थित रहें, पर किसी भी चेतन घटनाक्रम में इन सभी तत्वों का कमोबेश रहना जरूरी है। यद्यपि आजकल के संरचनावादी मानते हैं कि संरचना अपने आप में एक विशिष्ट संज्ञेय प्रतीकात्मक अस्तित्व की जनक है, जो अर्थ और अस्तित्व की सामान्य अवधारणा से स्वतंत्र है, पर यह विचार एक प्रकार से मनुष्य की संज्ञेय प्रतीकात्मकता का अंधविश्वासपूर्ण दैवीकरण है, क्योंकि किसी भी दृष्टि से यथार्थ की संज्ञेय वास्तविकता और उसके निस्सीम भाव को नकारा नहीं जा सकता। यदि सभी कुछ संरचना का फल है, तो ज्ञान का नवीनीकरण या उसमें अभिवृद्धि किस आधार पर होगी? इस प्रश्न का उत्तर संरचनावाद में नहीं है, जिसके कारण संरचनावादी और उत्तर-संरचनावादी परिवर्तन और इतिहास के विचार से घबराहट महसूस करते हैं।

ज्ञान या विश्वास के रूपवादी आयाम निस्सीम यथार्थ के विभेदीकरण और विभाजन पर आधारित हैं, जिसे एक प्रकार का खेल माना जा सकता है। खेल विभिन्न प्रकार के होते हैं और तदनुसार उनके नियम भी अलग-अलग होते हैं, पर किसी खेल का कोई सर्वकालिक या सार्वभौम सत्य नहीं होता। यदि किसी खेल के नियम को उस खेल का सत्य माना जाए, तो खेल के नियम में थोड़ा बदलाव कर देने से उसके पहचाने जाने के लिए आवश्यक स्वरूप नष्ट हो जाएगा, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। आज से सौ बरस पहले फुटबाल के नियम आज से काफी अलग रहे होंगे, पर सौ बरस पहले का आदमी भी आज के फुटबाल मैच को फुटबाल के खेल के रूप में पहचान सकेगा। इसी प्रकार किसी भाषा को यदि उसके शब्दकोष या व्याकरण का समानार्थक माना जाए, तो भाषा को भी एक प्रकार के खेल के रूप में देखा जा सकता है, लेकिन जहां फुटबाल मैच के दौरान फुटबाल के नियम नहीं बदले जा सकते, वहीं भाषा का खेल निरंतर चलता

रहता है, और इस खेल के दौरान ही इसके 'नियम' भी निरंतर बदलते रहते हैं, पर इससे भाषा की संरचना या स्वरूप नष्ट नहीं हो जाता। हम कह सकते हैं कि यथार्थ के आंशिक ज्ञान का कोई सर्वकालिक या सार्वभौम सत्य न होते हुए भी उसमें अर्थ, परिवर्तन और विकास की संभावना निरंतर बनी रहती है।

ज्ञान का स्थिर चित्र एक उद्घोषणा है। यह उद्घोषणा अंतर-व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों पर आधारित है जिसके लिए भाषा का माध्यम आवश्यक है। यह उद्घोषणा भाषा के माध्यम से और उस भाषा-खेल के माध्यम से संबंधित भाषा खेल के नियम (व्याकरण और शब्दकोश) का एक उदाहरणीकरण है, परंतु उपर्युक्त नियम और उसके उदाहरणीकरण दोनों के ही निरंतर परिवर्तनशील रहने के कारण संबंधित उद्घोषणा को भाषा-दोष से विमुक्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार व्यक्ति की मनः स्थिति को जो ज्ञान और विश्वास के रूप में मात्र व्यक्ति द्वारा ही अनुभूत है, वह भी मूल रूप में असंप्रेषणीय है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति दृष्टिदोष के कारण लाल रंग को हरा देखता है, जबकि अन्य लोग उसे लाल देखते हैं, तो कोई सामान्य व्यक्ति लाल रंग को संबंधित भाषा में लाल कहेगा, परंतु दृष्टिदोषपूर्ण व्यक्ति भी उसे लाल ही कहेगा, यद्यपि वह वास्तव में लाल को हरे रंग के रूप में देखता है या वह लाल और हरे रंगों में विभेद नहीं कर पाता। उसके दृष्टिदोष का लोगों को तभी पता चलेगा जब वह वास्तविक हरे रंग को भी लाल ही कहेगा, पर यह खोज भाषा द्वारा मनःस्थिति के असंप्रेषणीय होने को गलत नहीं ठहरा सकती। बाह्य संवेदनों से प्राप्त ज्ञान भी इन मूल संवेदनों का एक धुंधला अनुवाद है, क्योंकि संवेदनों के उद्गम को भी मूलतः जाना नहीं जा सकता। व्यक्ति तात्कालिक मनःस्थिति में सीमित और केंद्रीभूत है, यही व्यक्ति का सत्य और ज्ञान है, पर इसे उद्घोषित नहीं किया जा सकता। आंशिक या ज्ञेय यथार्थ व्यक्तिगत केंद्रीभूत मनःस्थिति है, जिसके कुछ स्वरूपों को कुछ लोग आध्यात्मिक कह सकते हैं, परंतु असंप्रेषणीयता का गुण सभी मनःस्थितियों में एक समान रूप में विद्यमान रहता है। मनःस्थिति का एक रूप ज्ञान है, जो अधिकाधिक यथार्थ को अनुभूत करने और उसके द्वारा अपने को उद्घोषित करने को उद्यत रहता है, परंतु विश्वास मनुष्य की ऐच्छिक परिकल्पना है, जो कर्म को प्रोत्साहित करती है। ज्ञान स्वयं में अनुभूत यथार्थ है, उसकी उद्घोषणा या फिर कर्मप्रवृत्ति के लिए कोई सुस्थिर आधार नहीं पा सकता, जिसमें उसका निस्सीम यथार्थ और कर्म के साथ उचित और व्यावहारिक समन्वय हो। फिर भी मनुष्य की जैविक और सुखात्मक प्रवृत्तियों को ज्ञान या विश्वास की बैसाखियों के बिना अपने को अभिव्यक्त और विकसित करना ही भविष्य की सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना करना संभव है क्योंकि जैविक और सुखात्मक प्रवृत्तियों का संचालन तात्कालिक और केंद्रीभूत मनःस्थिति के रूप में होता है, जो प्राणियों के चेतन अस्तित्व का स्वतःस्फूर्तीकरण है जिसके माध्यम से संचार की भविष्यवक्तृत्वहीनता और निर्बाध स्वतंत्रता चेतना में अभिव्यक्त होती है।

प्रतिबद्धता के विचार की काफी चर्चा वामपंथी राजनीति में हुई है जिसका विस्तार साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है। वामपंथी राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिबद्धता प्रगतिशीलता में निहित है, यद्यपि सामान्य व्यवहार में प्रगतिशीलता को कुछ मूल्यों के रूप में या लोकप्रिय नारों के रूप में लिया जाता है न कि सामाजिक उत्पादन प्रणाली की उत्पादकता के अर्थों में। फिर भी प्रतिबद्धता का मूल अर्थ आत्मसातीकृत विश्वास, जिसे हम 'आस्था' कह सकते हैं, और तदनुरूप आचरण के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। इस आस्था के व्यावहारिक स्वरूप को या मनुष्य के बाह्य आचरण में इस आस्था की अभिव्यक्ति को प्रतिबद्धता कहा जा सकता है। इस प्रकार की आस्था में उद्भूत प्रतिबद्धता की प्राचीन सामाजिक संरचनाओं में बहुतायत है, जिसका आधार किसी मूल्य का आत्मसातीकरण है, परंतु इस आत्मसातीकृत मूल्य या आस्था का कोई न कोई व्यावहारिक और सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य अर्थ होना आवश्यक है। सापेक्षता सिद्धांत में कोई आस्था रख सकता है पर इसकी आचरण के लिए कोई प्रासंगिकता नहीं है, जिसे सामाजिक मूल्य व्यवस्था में अभिव्यक्त किया जा सके। अंततः प्रतिबद्धता मात्र ऐसे सिद्धांतों या मूल्यों के प्रति हो सकती है, जिनको नैतिक मूल्यों के संदर्भ में वांछनीय समझा गया है। प्रायः मूल्य और विशेषकर नैतिक मूल्य सत्य की उद्घोषणाओं पर आधारित होते हैं जो ज्ञान के स्थिर चित्र हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि प्रतिबद्धता आस्थायुक्त हो, क्योंकि आस्थाहीन प्रतिबद्धता पर कोई व्यावहारिक रोक नहीं लगाई जा सकती। नैतिक मूल्यों का अनुपालन या तो आत्मसातीकरण द्वारा अथवा जबर्दस्ती डंडे के जोर पर भी कराया जा सकता है, पर लगता है कि भय, आत्मसातीकरण के माध्यम अथवा प्रशिक्षण द्वारा प्राप्तव्य आस्था का मिला-जुला रूप प्राचीन सभ्यताओं में प्रतिबद्धता को जन्म देता है। इस सभ्यताओं में मूल्यों के सत्य के परीक्षण पर कोई जोर नहीं है; महत्व मात्र इस बात का है कि क्या इन मूल्यों की प्रतिबद्धता और तदनुरूप आचरण सामाजिक व्यवस्था के सुदृढ़ होने में सहायक है अथवा नहीं। सामाजिक व्यवस्था से अलग किसी व्यक्ति के सुख या सुविधा का विचार प्रायः प्राचीन विचार प्रणालियों में नहीं मिलता। आधुनिक वामपंथी प्रतिबद्धता गतिशील यथार्थ के वर्तमान संज्ञेय स्थिर चित्र को अपना तत्त्वमीमांसात्मक आधार बनाती है, जो नवीन समाज के सुदृढ़ीकरण पर बल तो देती है, पर अंततः मनुष्य की क्रियात्मक स्वतंत्रता को भी स्वीकार करती है। व्यावहारिक स्तर पर यह प्रतिबद्धता मात्र छिछली नारेबाजी और घटिया दलगत राजनीति में परिलक्षित होती है, जिसमें या तो वैचारिकता है ही नहीं और यदि है भी तो एकांगी भावोद्देग से अभिभूत रहने के कारण उसमें स्वतंत्र और निष्पक्ष सत्यान्वेषण की संभावना बहुत कम है। इसके अलावा आधुनिक समाज में ऐसी भी प्रतिबद्धता उपलब्ध है, जो मात्र कथित आधुनिक मूल्यों में अंधविश्वास पर आधारित है, जिसमें सत्यान्वेषण या बौद्धिक परीक्षण के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इस प्रतिबद्ध उन्माद के मुख्य स्रोत मार्क्सवाद, राष्ट्रवाद, जातिवाद और धर्म हैं। और इसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति संगठित उग्रवाद में दिखाई देती है, जिसका

सत्यान्वेषण या बौद्धिक परीक्षण से दूर का भी कोई रिश्ता नहीं है। सबसे खतरनाक स्थिति वह है जब कि सतही बौद्धिक परीक्षण और भावोद्वेग अपनी आस्था, परिकल्पना या इच्छा को सत्य की उद्घोषणा में तब्दील कर देते हैं, क्योंकि सत्य की पकड़ भावुक कर्म को नैतिक और व्यावहारिक औचित्य का जामा पहना सकती है। यह समस्त क्रियाकलाप विभिन्न संस्थाओं और विचार प्रणालियों के माध्यम से सामाजिक शक्ति को स्थापित और परिचालित करता है जिसका विशुद्ध तत्त्व वैचारिक और भौतिक हिंसा है।

कला में प्रतिबद्धता की बात आधुनिक समय की उपज है, पर इसमें मंगलमयी सोद्देश्यता का विचार जिसे हम एक प्रकार की प्रतिबद्धता कह सकते हैं, काफी पुराना है। संस्कृत साहित्य के सुभाषित इस प्रकार की प्रतिबद्धता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनमें पूर्व से स्थापित आदर्शों को साहित्य के माध्यम से पोषित किया गया है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन समाज में ये आदर्श प्रायः निर्विवाद हैं, अतः इनमें किसी बौद्धिक परीक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार की निर्विवाद प्रतिबद्धता का मुख्य आधार प्राचीन समाज के विकास की धीमी और अदृश्य गति है जिसमें वस्तुओं और मूल्यों के अपेक्षाकृत स्थिर होने का विभ्रम हो सकता है, पर इस प्रतिबद्धता में दिखावटी या नकली कुछ नहीं है। आधुनिक युग में कुछ मूल्यों के निर्विवाद होने की संभावना है, पर वामपंथी या प्रगतिशील लेखन की दृष्टि से जिन विचारों या मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता प्रदर्शित की जाती है, वे मूल्य राजनीतिक और आर्थिक होते हैं, जिनका स्थिर या निर्विवाद होना असंभव है। इस प्रकार के गतिशील विचारों और मूल्यों में प्रतिबद्धता की शर्त यथासंभव निष्पक्ष सत्यान्वेषण और बौद्धिक परीक्षण है, जिसके बिना यह प्रतिबद्धता, मूर्खतापूर्ण अंधविश्वास के सिवा कुछ भी नहीं हो सकती। प्राचीन समाज में प्रतिबद्धता के लिए अधिक अनुकूल परिवेश उपलब्ध है न कि आधुनिक समाज में, फिर भी क्या कारण है कि प्राचीन काल में प्रतिबद्धता का कोई मुद्दा नहीं उठाया जाता, जबकि आधुनिक काल में तीव्र सामाजिक परिवर्तन के कारण प्रतिबद्धता का विचार दुष्कर होते हुए भी आज इसको लेकर इतना हल्ला किया जाता है? इसका कारण अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोपीय वैचारिक परंपरा रही है जो आरंभ में बुद्धि और बाद में अनुभव को सत्यान्वेषण का मुख्य आधार बनाकर चली, यद्यपि एक मानवतावादी व्याख्याशास्त्र की परंपरा भी विशेषकर जर्मन दार्शनिकों में इसी युग में परिलक्षित होती है, परंतु यूरोप की मुख्य चिंतन धारा में इसे उचित स्थान नहीं मिला, विशेषकर क्योंकि इसी समय में बुद्धि और अनुभव के सहयोग से फलीभूत विज्ञान ने चमत्कारिक सफलताएं प्राप्त कीं, जिसके कारण विज्ञान के माध्यम से बुद्धि और अनुभव को किसी भी प्रकार के संशयवाद के विरुद्ध जीत हासिल हुई, यद्यपि यह जीत नकली थी।

बुद्धि, अनुभव और तथ्यात्मक विज्ञानवाद की कड़ी में हेगेल, नीत्शे और बर्गसा ने अपने विचारों के माध्यम से गति, जैविकता और निस्सीम विकास के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, जो एक प्रकार के गतिशील सत्य का सिद्धांत था, पर जिससे रहे-सहे नैतिक मूल्यों की

कमर टूट गई। दुर्भाग्यवश वैज्ञानिक सत्यान्वेषण के 'हरमैन्यूटीकल' या व्याख्यावाद के नाम पर सत्य की उद्घोषणाओं की बारिश होने लगी। इन सत्य की उद्घोषणाओं को छिछले पर लोकप्रिय उन्मादी नारों से सुसज्जित करने का काम रूसो ने विशेष सफलता से संपन्न किया जिनके अनुसार जनता की सामान्य इच्छा को ही सामाजिक परिवर्तन का आधारभूत सत्य माना गया जिसके द्वारा निर्जीव वैज्ञानिक बौद्धिकता को भावुक जनसमर्थन से शक्तिसंपन्न बनाया गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में शिलक या कार्नेप के तार्किक अनुभववाद ने भी संशयवादी दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी और यहां तक कि कार्ल पौपर ने भी नहीं। इस समस्त वैचारिक परंपरा का मूल संदेश यही रहा कि यथार्थ अस्तित्व से संपन्न है, उसे जाना जा सकता है, इस जानकारी के सत्य को उद्घोषित किया जा सकता है, जिसके आधार पर व्यावहारिक स्तर पर सर्वसाधारण को विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सही मार्गनिर्देशन भी दिया जा सकता है, जिसमें रूसो के जनतांत्रिक उन्माद और नीत्शे की शक्तिपूजा के सम्मिश्रण ने आधुनिक युग में अधिनायकवाद को जन्म दिया, जिसमें प्रतिबद्धता के विचार का सर्वाधिक प्रचार और प्रसार किया गया। तदनुसार मार्क्सवाद से प्रभावित विचारों में भी सत्य की उद्घोषणा और उसके प्रति प्रतिबद्धता की परंपरा बन गई।

कोई भी कलाकृति प्रतिबद्धता के कारण न तो घटिया हो सकती है और न बढ़िया। कला के मूल्यांकन का आधार सत्य की उद्घोषणा नहीं हो सकती और न ही कला की तथ्यात्मकता इसे कोई आधार या मानदंड प्रदान कर सकती है। यदि कुछ मूल्य या विचार ऐसे हैं जो स्वतः ही कलाकार के हृदय को छूते हैं, तो फिर इसमें प्रतिबद्धता को कड़ाई से लागू करने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ेगी। कुल मिलाकर प्रतिबद्धता से कम से कम कला के क्षेत्र में भलाई तो कुछ नहीं हो सकती, पर नुकसान जरूर हो सकता है।

राजनीतिक शब्दावली में प्रतिक्रिया का अर्थ है किसी ऐसे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन का विरोध किया जाना जिससे समाज के अधिकांश सदस्यों का कल्याण होता हो अथवा यह उनके हित में हो। 'कल्याण' और 'हित' दोनों ही सुखवाचक शब्द हैं, पर इस संदर्भ में ये 'ग्राह्य मनःस्थिति' के समानार्थक नहीं हैं। व्यक्ति विशेष के कल्याण या हित को ग्राह्य मनःस्थिति के रूप में लिया जा सकता है, क्योंकि किसी भी घटना का सुखद या दुखद होना व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति से ही निर्धारित होगा। परंतु यह मनःस्थिति तात्कालिक क्षणिकता में केंद्रीभूत है। यदि व्यक्ति के मानसिक इतिहास को ध्यान में रखें तो पाएंगे कि भूतकाल की अनेक मनःस्थितियां जो तत्कालीन क्षण में ग्राह्य या सुखद अथवा अग्राह्य या दुखद थीं, वे वर्तमान मनःस्थिति के संदर्भ में इसके ठीक विपरीत हो सकती हैं या उनकी पहचान अलग हो सकती है। बचपन में अध्यापक से मार खाना तत्कालीन समय में दुखद घटना थी। पर वर्तमान में यह बचपन की मीठी स्मृति का एक भाग है। वस्तुपरक घटनाक्रम के संदर्भ में भी कहा जा सकता है कि कड़वी दवा की भांति ऐंद्रिक रूप से कष्टदायी अनुभव हमारे हित में

हो सकते हैं और प्रायः होते हैं।

अंततः सामाजिक हित या कल्याण की परिभाषा अधिकांश मनुष्यों के मानसिक सुख और जीवन में निहित है। सुख अथवा ग्राह्य मनःस्थिति सामाजिक संदर्भ में एक औसत मात्र है, परंतु जहां एक व्यक्ति के जीवन समाप्त होने पर यह निर्धारित किया जा सकेगा कि 'औसतन' उसके सुख या जीवन का परिमाण क्या था, तो उसी आधार पर हम पूरे समाज के लिए भी एक सुख या जीवन को मापने का आधार खोज सकते हैं, परंतु इस व्यवस्था में कठिनाई यह है कि मरते समय आदमी से उसके पूरे जीवन के सुख-दुख का समाकलन दरियापत नहीं किया जा सकता और पूरे समाज की कोई सुनिश्चित मृत्यु की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। इसी प्रकार सुख या दुख के लिए विभिन्न व्यक्तियों और यहां तक कि बड़े मानवीय समुदायों की संवेगात्मकता में काफी अंतर होगा, अतः इस समाकलन में एक कठिनाई यह है कि दो व्यक्तियों या सांस्कृतिक रूप से भिन्न दो समाजों की मूल मानसिक संवेगात्मकताओं को जोड़ा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, पुलिस की हिरासत में किसी अभियुक्त का मारा जाना या किसी स्त्री को दहेज न मिलने के कारण मार दिया जाना हमारे समाज की मानसिक संवेगात्मकता को अपेक्षाकृत कम प्रभावित करता है, पर अधिक आधुनिक या विकसित समाजों में ऐसी दुर्घटनाओं के प्रति सामाजिक संवेगात्मकता बहुत अधिक होनी चाहिए। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति की दो मनःस्थितियों को जोड़ने में भी मूलभूत कठिनाई है क्योंकि व्यक्ति के संदर्भ में भी मनःस्थितियों की क्रमबद्धता की तुलना की जा सकती है, पर गणन संख्या या परिमाण के आधार पर तुलना नहीं की जा सकती। हम पाते हैं कि महानतम मनुष्यों के जीवन में भी उतना ही सुख या दुख होता है जितना कि साधारण मनुष्यों के जीवन में और अक्सर अमीर आदमी भी उतना ही सुखी या दुखी होता है जितना कि गरीब आदमी। यही बात समाजों या सभ्यताओं के बारे में भी कही जा सकती है। अंततः कहा जा सकता है कि सुख ग्रहण करने या दुख उठाने की मात्रा एक प्राकृतिक या शरीर क्रियात्मक स्तर पर स्थिर है, जिसके कारण समाजों की भी सुखात्मक या दुखात्मक मात्रा स्थिर है। अतः व्यक्तिगत प्रगति या सामाजिक समृद्धि का उद्देश्य जीवन में न तो सुख को बढ़ा सकता है और न दुख को घटा सकता है।

‘यथार्थ का घर्षण’ मनुष्येतर प्रतिक्रिया है। मनुष्य की प्रतिक्रिया स्वयं मनुष्य की क्रिया का भाग है जो समाज में व्यक्तियों या उनके स्वार्थों के पाथर्क्य पर आधारित है। यद्यपि स्वयं एक व्यक्ति की मनःस्थितियों को या विभिन्न व्यक्तियों की मनःस्थिति को जोड़ा नहीं जा सकता, पर व्यक्तिगत और सामाजिक मनःस्थितियों एवं स्वयं निस्सीम में उद्भूत यथार्थ की गति इतनी तीव्र है कि वे प्रायः स्वयं आपस में कभी तो टकराती हैं और कभी-कभी साथ ही एक दिशा में भागती हैं और स्वयं निस्सीम का प्रतिनिधित्व करने वाले यथार्थ के साथ भी अनुकूल या प्रतिकूल घर्षण की भी अपरिमित संभावनाएं बनी रहती हैं। अतः व्यक्तिगत, सामाजिक और सांसारिक घटनाक्रम अनंत की आकस्मिकता से परिपूर्ण होते हुए भी स्वभावतः किसी न किसी संरचना या नियम

का पालन करता प्रतीत होता है। देस्तुत त्रैसी के बाद यूरोप में मनुष्यों के चेतन व्यापार को अदृश्य रूप से नियामक विचार प्रणाली से प्रभावित होने की बात की गई है, परंतु स्वयं विचार प्रणाली के नियामक तत्वों के बारे में एक ‘वैज्ञानिक’ शब्दावली में कुछ कहना कठिन है। चेतन व्यापार जहां एक ओर अदृश्य चेतन-अचेतन और बौद्धिक भाषागत संरचना को रेखांकित करते हैं, वहीं दूसरी ओर मनुष्येतर और यहां तक कि इतिहासेतर संदर्भ में इस रेखांकन के बारे में यह कहने का आधार है कि निस्सीम में स्वतंत्र विचरण करने वाली तरंगें किसी काल विशेष में किसी व्यक्ति या समाज के तट से टकराती हैं और उसकी संपूर्ण धरती में बाढ़ लाकर भविष्य के लिए उस भूमि को उर्वरक शक्ति प्रदान करती हैं। क्या कारण है कि एक ही समय में एक समाज में विचारधाराओं और अविचारों की भरमार हो जाती है, पर अन्य कालों में उसी समाज और संस्कृति में कुछ भी नहीं होता? जो समाज एक काल में राजनीतिक और सांस्कृतिक वैभव में संसार में शीर्षस्थ हो जाते हैं, वही दूसरे काल में पतन और अंधविश्वास के गर्त में क्यों चले जाते हैं? इन ऐतिहासिक घटनाओं की वैज्ञानिक अवधारणा के नाम पर अपने वर्तमान बौद्धिक पूर्वाग्रहों के अनुसार कुछ लीपा-पोती कर मन बहलाया जा सकता है, पर इसे किसी विचार प्रणाली या वैज्ञानिक इतिहास दर्शन का नाम नहीं दिया जा सकता।

उद्देश्य अंततः अनिर्णीत हैं, परंतु एक सामान्य या रूपवादी स्तर पर ग्राह्य मनःस्थितियों को उद्देश्य की परिभाषा दी जा सकती है, पर ग्राह्य मनःस्थिति विचार के तौर पर पूरी तरह गुणहीन है और उसे ज्ञान या सोद्देश्यमूलकता के माध्यम से कोई ठोस पहचान या परिभाषा प्रदान नहीं की जा सकती।

प्रतिक्रिया ऐसे विचारों और गतिविधियों की द्योतक है जो मनुष्य को निस्सीम यथार्थ की विशुद्ध परिवर्तनशीलता के साथ तादात्म्य स्थापित करने में बाधक हैं, क्योंकि उन्नति और अवनति निस्सीम के विशुद्ध परिवर्तन में ही उद्भूत होते हैं और इस दृष्टि से कुछ ‘होते रहना’ कुछ ‘न होने’ से श्रेयस्कर है। विशुद्ध परिवर्तन अनंत और भविष्य का द्योतक है, जो स्थिर नहीं परंतु निरंतर परिवर्तनशील है, परंतु इस परिवर्तन से तादात्म्य किसी सत्य की उद्घोषणा के माध्यम से किया या करवाया नहीं जा सकता। मनुष्य की मानसिक संरचना के उद्देग, संवेदन एवं संघर्षरत जिजीविषा ही वे तत्व हैं जिनसे मनुष्य बिना किसी झूठ का सहारा लिए अनंत भविष्य और उससे उद्भूत विशुद्ध परिवर्तनशीलता का सामना कर सकता है।

अंततः मनुष्य की स्वतंत्र और दिशाहीन वैचारिक काल्पनिकता ही के माध्यम से विशुद्ध परिवर्तन को चमत्कारिक और सृजनात्मक आयाम दिए जा सकते हैं, जो किसी भी यथार्थमूलक, अनुभववादी, वैज्ञानिक अथवा धार्मिक या रहस्यवादी दृष्टिकोण के माध्यम से संभव नहीं है क्योंकि ये सभी ‘सत्य की रूढ़िवादिता’ के शिकार हैं या हो सकते हैं। इस दृष्टि से सत्य की कोई भी उद्घोषणा, फिर चाहे वह वामपंथी खेमे से की गई हो या दक्षिणपंथी खेमे से, अपने आप में प्रतिक्रियावादी है। □

काश! हम भी किसी के रू-ब-रू होते

रामपकाश मेंहदीरत्ता

आजकल मैं कोई भी 'साहित्यिक' पत्रिका उठाता हूँ तो उस में प्रकाशित एकाध इंटरव्यू अवश्य देखने को मिलता है और जब भी मैं उसे पढ़ता हूँ तो बस ठगा-ठगाया रह जाता हूँ, खासकर जब उसमें मेरी उम्र से छोटा कोई 'सुप्रतिष्ठित' साहित्यकार मुझ से आधी आयु की किसी नई 'पत्रकार-प्रतिभा' के रू-ब-रू होता है।

ये साक्षात्कार भी अब तेजी से हिंदी-साहित्य की एक नई विधा बनते जा रहे हैं जो प्रायः प्रश्नोत्तर, निबंधात्मकता, इतिवृत्त की खिचड़ी होती है। कुछ नवोदित लेखकों ने तो जिस-तिस से किए साक्षात्कारों का छोटा-मोटा संग्रह करके अपने नाम से प्रकाशित कतिपय पुस्तकों में एक और 'ग्रंथ-रत्न' जोड़ लिया है। मुझे लगता है कि शेक्सपीयर के सुप्रसिद्ध नाटक *मचैट आफ वेनिस* में वर्णित करुणा की तरह ये इंटरव्यू भी दोहरे वरदान होते हैं यानि इनसे साक्षात्कार करने और करवाने वाले दोनों 'नर-पुंगव' लाभान्वित होते हैं-

मन तुरा हाजी बगोयम, तू मरा मुल्ला बगो। अर्थात् तू मुझे हाजी गरदान, मैं तुझे मुल्ला बखानूंगा, फिर देख! पाठक कैसे स्तंभित होते हैं।

इसीलिए तो जनाब! जैसा मैंने शुरू में कहा, जब मैं ये साक्षात्कार पढ़ता हूँ तो, राम कसम एक ठगोरी-सी लग जाती है-

- फलां मूर्धन्य कहानीकार से फलां पत्रकार की बातचीत।
 - इस सार्वभौम कवि से उस डा. (पी.एच.डी.) की भेंटवार्ता।
 - इन शिखरस्थ उपन्यासकार से उन 'सोपान चढ़ रहे' लेखक की मुलाकात।
 - उक्त सर्वतोमुखी प्रतिभा से साहित्य-जगत के एक उदीयमान हस्ताक्षर का अंतरंग संवाद। आदि-आदि।
- इन 'धाकड़' साक्षात्कारों की भाषा भी बड़ी 'धांसू' होती है

और उसमें उर्दू-फारसी के किन्ही विशिष्ट शब्दों का मानी-बे-मानी प्रयोग तथा एक चुनिंदा हिंदी शब्दावली का इस्तेमाल इन्हें असरदार और बारौब बनाने के लिए जरूरी मान लिया गया है। यथा-

● आप (साक्षात्कारित लेखक) बड़े दबंग हैं। आम इंसान की कुंठाओं और टूटन से सीधे मुखातिब होते हैं। आपकी कहानियों की जमीन बड़ी सशक्त (?) और हमारे आस-पास की है। इनका जुझारू व्यक्तित्व जब सामाजिक विसंगतियों को ललकारता है तो उसके तेवर देखते ही बनते हैं। विषय कोई भी और कैसा भी हो, उस पर आपकी पकड़ कभी ढीली नहीं पड़ती।

अपनी एक अलग पहचान होने पर भी आप अपने सहधर्मियों से जुड़े रहते हैं। आपके साहित्य में भोगे हुए यथार्थ और युग-बोध दोनों के दर्शन होते हैं। बदरंग मध्यमवर्गीय जीवन को परत-दर-परत बेनकाब करने में आप बेमिसाल हैं। लगता है, खुली शफफाक बेबाकी आपको विरसे में मिली है। आदि-आदि।

ऊपर लिखित रेखांकित लफ्फाजी से चौंक गए हों तो साक्षात्कार में चर्चित साहित्यकार की रचनाओं के नाम पढ़कर तो आप भौंचक्के ही रह जाएंगे। यथा-

- बहकी आग, चांद का कल्ल (उपन्यास)
- सिसकता सांप, धधकता दरिया (कहानी संग्रह)
- भटकती धूप, सिरफिरा आकाश, नशीली धुंध (काव्य-ग्रंथ)
- घोंचू, बौड़म, बिकाऊ-खरीददार (रेखाचित्र)
- ऊद-बिलाव (प्रगतिशील निबंध)
- बेदाल के बूदम (संस्मरण)
- दब्बू दावेदार (आत्मकथा)-प्रकाश्य

इस तरह की ऊल-जलूल नामावलि से एक सामान्य पाठक पर इतना गहरा असर पड़ता है कि वह उसके सही अर्थ समझने

में सारा आई-क्यू दाव पर लगा देता है, किंतु फिर भी 'बरसे अंबर, भीजे पानी' या 'नाव में नदिया डूबी जाए' के सदृश इन माडर्न उलटबांसियों में उलझकर रह जाता है।

इन साक्षात्कारों के 'इति-वृत्त सैक्शन' में वी.आई.पी. साहित्यकार को बहुरंगी पारदर्शी चित्रों के माध्यम से अपने अध्ययन-कक्ष में साहित्य-सृजन करते, विभिन्न मंचों पर जानी-अनजानी संस्थाओं द्वारा सम्मानित होते, अपने निवास-स्थान के बाहर बागवानी करते, टॉमी के साथ प्रातः भ्रमण करते तथा पड़ौसियों के बच्चों के साथ कैरम-बोर्ड खेलते पेश कर उन्हें एक बहुआयामी व्यक्तित्व घोषित किया जाता है। एकाध चित्र में अपने परिजनों के साथ खाना खाते दिखाकर उन्हें, अनेकानेक व्यस्तताओं के बावजूद, एक परिवार-प्रिय विभूति भी बताया जाता है।

सच पूछो तो यह सब देखकर मेरे मन में भी एक हूक-सी उठती है। कलम तो मैं भी पिछले चार दशकों से घसीट रहा हूँ। बीसियों-पच्चीसियों पत्रिकाओं में भी छप चुका हूँ। किंतु आज

तक मेरे दरवाजे पर किसी पत्रकार ने दस्तक नहीं दी कि साहब! मैं आपका इंटरव्यू लेने आया हूँ, मुझे कृतार्थ कीजिए।

पता नहीं क्यों, किसी सरकारी या नीम-सरकारी, राष्ट्रीय, प्रादेशिक या शहरी साहित्यिक संस्था ने मुझे अब तक अपने किसी फंक्शन में गौरवान्वित करने की बात क्यों नहीं सोची।

'जिस तन लागे, सो तन जाने।' आप मेरे दिल का दर्द नहीं समझ सकते। मेरी बीवी ठीक ही कहती है कि इतना पढ़-लिखकर भी मुझे दुनियादारी न आई। नहीं तो मेरे गले में भी फूलमालाएं पड़तीं और किसी आर्ट-पेपर पर छपी पत्रिका के पन्नों पर हम भी इस बुढ़ापे में अपनी जवानी के चित्र देखते इतराते।

अब आपसे क्या छिपाऊँ। कितनी हसरत है कि काश! मैं भी किसी पत्रकार के रू-ब-रू होता, उसके सामने अपनी साहित्यिक उपलब्धियों का बखान करता और तदुपरांत एक चमचमाती पत्रिका में अपना सचित्र-साक्षात्कार पढ़कर जीवन धन्य करता। पर क्या करूँ, यह न थी हमारी किस्मत कि विसाले-यार होता। □

अंग्रेजो भारत वापिस आओ



सुप्रसिद्ध कवि और स्तंभ-लेखक अक्षय जैन
का बहुचर्चित व्यंग्य-संग्रह

मूल्य 30 रुपये : ड्रॉफ्ट, मनीआर्डर या चेक (मुंबई से बाहर के चेक में 10 रुपये अतिरिक्त जोड़ें) 'अंजल प्रकाशन' के नाम भेजें।

अंजल प्रकाशन

209, मेघल इंडस्ट्रीयल एस्टेट, देवीदयाल रोड,
मुलुंड (प.), मुंबई-400 080.

फोन : 561 8978, फैक्स : 022-591 2285

डाक-व्यय हम वहन करेंगे। पुस्तक विक्रेता संपर्क करें।

सजिल्द संस्करण का मूल्य 60 रुपये।

लघु पत्रिकाएं : सरोकार और संकल्प

इधर देखने में आया है कि व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के अखबारों और पत्रिकाओं ने 'सेलेबिलिटी' पर ध्यान केंद्रित किया है। जीवन शैली के अर्थ ऐसी पत्रिकाओं ने बदल दिए हैं— सिर्फ शगल अथवा आनंद उद्योग ! इसके विपरीत हमारे समय के सच को, समाज के यथार्थ को, मनुष्य के अकेला पड़ते जाने के कष्ट को समझते-पहचानते हुए चुनौतियों से जूझने की ताकत पैदा करती हिंदी साहित्य जगत की कुछ लघु पत्रिकाएं बेहद सीमित संसाधनों के बावजूद, हिंदी साहित्य को जिंदा रखने में तथा उसे बहस-तलब बनाने में समर्थ हुई हैं। हिंदी साहित्य को भरोसा लघु पत्रिकाओं पर ही है, जिनकी प्रसार संख्या बेशक कम है लेकिन कोशिशें ईमानदार हैं। ऐसी कुछ लघु पत्रिकाओं पर टिप्पणी प्रस्तुत कर रहे हैं ज्ञानप्रकाश विवेक

व्यावसायिक घरानों से निकलने वाली चमकदार पत्रिकाओं के पास पाठकों को रिझाने वाले टोटके, बड़े तामझाम, धन की इफरात और नपा-तुला गणित होता है। ऐसी पत्रिकाओं के पास अपना नेटवर्क और विज्ञापन बटोरने का हुनर भी होता है। इधर देखने में आया है कि व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के अखबारों और पत्रिकाओं ने 'सेलेबिलिटी' पर ध्यान केंद्रित किया है। जीवन शैली के अर्थ ऐसी पत्रिकाओं ने बदल दिए हैं। सिर्फ शगल अथवा आनंद उद्योग ! व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की ऐसी चमकदार/ग्लेज़्ड पत्रिकाओं/समाचारपत्रों ने तीन 'एफ' पर ध्यान केंद्रित किया है—फैशन, फूड और फिल्म ! ये बिकारू चीजें हैं। युवा पीढ़ी के बीच विमर्श का बायस भी फैशन, फूड और फिल्में हैं। साहित्य घर के किसी कोने में रखे पुराने, बूढ़े रेडियो का नाम है, जिसका चलना अथवा जिसको सुनना 'फालतू काम' है।



यानी एक सतही समझ ! अगंभीर जीवन। सरपट दौड़ती, कंधा छीलती, बदहवास बनाती इच्छाएं। चिंता और चिंतना रहित समाज का फंतासीनुमा मॉडल ! अंग्रेजी और हिंदी की ढेरों पत्रिकाएं यही कुछ परोस रही हैं।

इसके विपरीत हमारे समय के सच को, समाज के यथार्थ को, मनुष्य के अकेला पड़ते जाने के कष्ट को समझते-पहचानते हुए तथा चुनौतियों से जूझने की ताकत पैदा करती हिंदी साहित्य



जगत की कुछ लघु पत्रिकाएं बेहद सीमित संसाधनों के बावजूद, हिंदी साहित्य को जिंदा रखने में तथा उसे बहसतलब बनाने में समर्थ हुई हैं। इसमें शक की गुंजाइश नहीं कि सर्वाधिक बीहड़ समय से गुजरती लघु पत्रिकाएं, प्रखर जनवादिता, बल्कि मनुष्यवादी चेतना के कारण समकालीन साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र बनी हुई हैं।

साधन सीमित हैं। प्रसार संख्या कम है। लेकिन हौसले बरकरार हैं। कोई बेचैनी, कोई ताप, कोई साहित्यिक-सामाजिक रिश्ता है कि बहुत सारे, बल्कि सभी संपादक आर्थिक कठिनाइयों से जूझते हुए, कहीं ज्यादा परिपक्व हुए हैं। बहुत सारी पत्रिकाएं बंद भी हुई हैं। जो पत्रिकाएं बंद हुई हैं, वे भी, बहरहाल, अपनी छाप छोड़ गई हैं। लेकिन कथादेश, वर्तमान



साहित्य और शेष जैसी पत्रिकाएं पुनर्प्रकाशित हुई हैं। इन पत्रिकाओं में पहले की अपेक्षा अधिक विश्वास, गंभीर वैचारिकता और दृढ़ संकल्प लक्षित हुए हैं। पहल, हंस, उद्भावना, वर्तमान साहित्य, दस्तावेज, कथादेश, वागर्थ, वैचारिकी, जनमत, उत्तरार्थ, कल के लिए अलाव, शेष, कथ्य रूप, पल प्रतिपल आदि पत्रिकाओं ने पूंजीवादी मनोवृत्तियों का अपनी कुव्वत के अनुसार भरसक मुकाबला किया है। वस्तुतः तमाम लघु पत्रिकाओं का मकसद एक ही है कि इस अपसंस्कृति और उपभोक्तावादी प्रदूषण के बीच साहित्य बचा रहे। मनुष्यता बची रहे।

यकीनी तौर से ज्ञानरंजन (सं. पहल) ने लघु पत्रिका आंदोलन को जीवित रखने और चुनौतियों को स्वीकार करने का हौसला दिया है। लघु पत्रिकाओं पर हुए सेमिनारों में भी उन्होंने इसे जिम्मेदारी भरा और चुनौतीपूर्ण काम समझा है। स्वयं ज्ञानरंजन ने पहल को निरंतर ज्यादा पुख्ता और संजीदा बनाया है। शेष पत्रिका के संपादक हसन जमाल ने अपने संपादकीय (अंक 13) में पत्रिका की कठिन आर्थिक स्थिति का बड़ी शालीनता से बयान किया है। आर्थिक मोर्चे पर वह थक-से गए हैं। लेकिन शेष का प्रत्येक अंक उनके भीतर छिपी ऊर्जा और बेचैनी का दस्तावेज बनकर सामने आता है। दस्तक के संपादक राघव आलोक इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर दस्तक का विशेषांक निकाल रहे हैं। उनकी चिट्ठियों से ज्ञात होता है कि उन्हें कितनी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। इसके बावजूद उन्हें भरोसा है कि अंक अच्छा निकलेगा। कथाकार, संपादक सुनील कौशिश को हमने जल्दी ही भुला दिया। वह अपने जर्जर शरीर और दसियों बीमारियों को झेलते हुए हर तीसरे महीने पत्रिका का नया अंक प्रकाशित करने की कोशिश करते थे। बेशक उन्होंने अपनी घरेलू सुविधाओं में बहुत सारी कटौतियां की थीं। ठठाकर हंसने और निश्चित नजर आने वाले राजेंद्र यादव (सं. हंस) भी आर्थिक मोर्चे पर कमजोर पड़ने का दुख अपने संपादकीय में कई बार



व्यक्त कर चुके हैं। कथ्य रूप के संपादक, कवि अनिल श्रीवास्तव कथ्य रूप के हर अंक को बड़ी सूझबूझ और कलात्मकता से निकालते हैं। लेकिन हर अंक उन्हें पहले से कहीं अधिक परेशान और तनावग्रस्त भी बना जाता है। कारण एक ही होता है- आर्थिक संसाधनों का अभाव। कथ्य रूप के लिए उन्हें पी. एफ. तक से लोन

लेना पड़ा।...करीब-करीब सभी लघु पत्रिका संपादकों के साथ ऐसे आर्थिक तनाव जुड़े हुए हैं। यह कोई शहीदाना तेवर नहीं, ऊर्जा, संकल्प और साहित्यिक सरोकार हैं कि तंगदस्तियों के बावजूद लघु पत्रिकाएं निकल रही हैं। हिंदी साहित्य को भरोसा लघु पत्रिकाओं पर ही है, जिनकी प्रसार संख्या बेशक कम है लेकिन कोशिशें ईमानदार हैं। ऐसी कुछ पत्रिकाओं के नए अंकों पर संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत है।

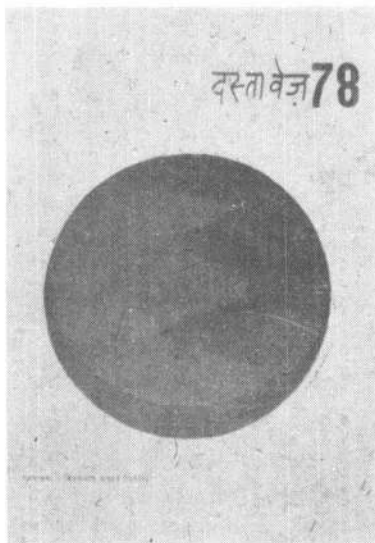
पहल (अंक सत्तावन) में लोर्का की जन्मशती पर सुरेश सलिल की सारगर्भित टिप्पणी है। अंत में उन्होंने लिखा है- 'लोर्का की कविता इस सदी की महान कविता है- उसमें भी महानतम है वह शोकगीत, जो कवि ने अपने सांड योद्धा दोस्त की आकस्मिक और अस्वाभाविक मृत्यु से आहत होकर लिखा था। यह एक ध्यान दिए जाने योग्य तथ्य है कि इस सदी के दो महानतम शोकगीत आंग्लेतर कविता में रचे गए। एक का रचनाकार का स्पेनिश भाषा का महाकवि लोर्का और दूसरी का शीर्षस्थ हिंदी कवि निराला ('सरोज स्मृति'-1935)।' इसी अंक में लोर्का की छः कविताओं के अतिरिक्त आलोकधन्वा की दस कविताएं शामिल हैं। अरुण कमल को हम एक अच्छे कवि के रूप में पढ़ते आए हैं। उनके कविता संग्रह *नए इलाके में* की कविताएं नए डिक्शन के साथ आई हैं। लेकिन पहल के अंक में उनकी कवि और कविता पर जो टीपें हैं वे हमारे समकालीन लेखन/परिदृश्य की दुर्बलताओं, कमजोर नसों पर दबाव जैसी हैं। भाषा चपल और अर्थवान है। यहां अरुण कमल को हम एक अच्छे गद्यकार के रूप में देखते हैं। कुमार विकल की स्मृतियों और छवियों को ताजा करता आत्मीयता भरा और स्पर्श करता लेख शैलेंद्र शैल का है। पांच कहानियों में स्वयं प्रकाश और मैत्रेयी पुष्पा की कहानियां स्त्री के संघर्ष और त्रासदी को मार्मिकता से उजागर करती हैं। पहल

ने 'कथा समय' सीरीज भी प्रकाशित है जिसमें हिंदी कहानी और उपन्यास की ताजा स्थिति का मूल्यांकन करने की कोशिश है। लेकिन यह कोशिश अधूरी है।

वर्तमान साहित्य ने एक बार फिर कहानी विशेषांक (दो अंकों में) निकाला है। करीब सत्तर कहानीकारों की कहानियों में समय और उसकी सचाइयों की टकराहट मौजूद है। विशेषांक में भीष्म साहनी, कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, कामतानाथ, कृष्ण बलदेव वैद, गोविंद मिश्र, विजयदान देथा के अतिरिक्त नई पीढ़ी के कथाकार शामिल हैं। सुधीश पचौरी और परमानंद श्रीवास्तव के लेख हैं। लेकिन दो अंकों का यह कहानी अंक अपने पहले विशेषांक जैसी बहस और सरगर्मी पैदा नहीं कर पाया। गोकि बहुत सारी कहानियां दमदार हैं।

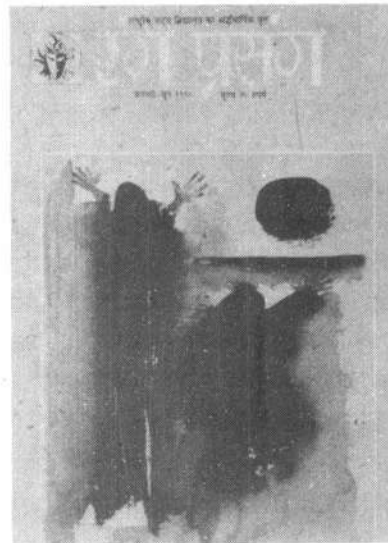
वर्तमान साहित्य ने कहानी अंक के जरिए कहानी को बहसतलब किया तो उद्भावना ने कविता अंक निकाला— 'सदी के अंत में कविता' उद्भावना के इस कविता अंक (अतिथि संपादक : विजय कुमार) के जरिए अपने वक्तों के तकाजे, संज्ञान और संवेदना को छूने-महसूस करने के अवसर तलाश किए गए हैं। इस अंक से यह बात भी जाहिर होती है कि कवि यथार्थ को शिद्दत से समझते हुए अधिक मुखर होने लगे हैं। उदय प्रकाश की कविता 'औरतें', राजेश जोशी की 'नींद में चलने वाला आदमी', मंगलेश डबराल की कविता 'फोन पर हालचाल', भगवत रावत की 'यह अच्छा है कि ज्यादातर लोग ऐसे नहीं हैं' तथा विष्णु नागर की 'सपनों में सपना' कविता। अशोक वाजपेयी की कविता 'अतीत की सर्द छांव और 'वर्तमान' में कुछ छिन जाने का व्यथा है। इनके अतिरिक्त कुमार अंबुज, देवीप्रसाद मिश्र, प्रमोद कौसवाल, सत्यपाल सहगल, सुल्तान अहमद और विमल कुमार की कविताएं प्रभावशाली हैं। इसी विशेषांक में विश्व कविताई पर गद्य है। सत्यपाल सहगल का लेख हिंदी कविता परिदृश्य पर आलोचनात्मक दृष्टि से काफी समझदारी से लिखा गया है। मंगलेश डबराल और राजेश जोशी की डायरी के अंश पठनीय और चिंतनपूर्ण हैं। बेशक विशेषांक में बहुत कुछ छूट भी गया है लेकिन जो शामिल है उसे नजरअंदाज करके, जो छूट गया है उस पर ध्यान केंद्रित करें, क्या यह न्यायसंगत होगा?

कथादेश (संपादक: हरि नारायण) के फिर से निकलने का स्वागत

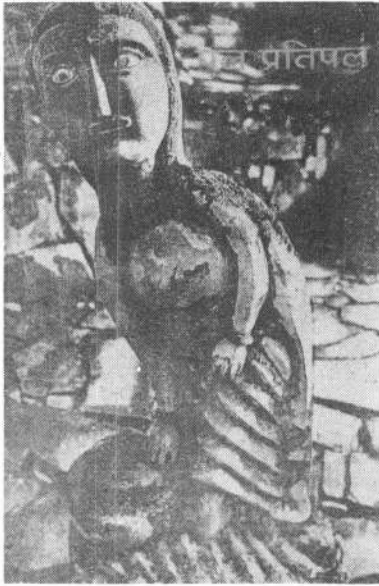


साहित्यिक हलकों में जोरदार ढंग से हुआ था। हंस के अतिरिक्त एक अन्य मासिक पत्रिका की जरूरत महसूस की जाने लगी थी। हंस में ठस्सपन, जड़ता और अपठनीयता हावी होने के कारण तथा कथादेश में बिल्कुल साफ दृष्टिकोण, निष्पक्ष सोच और कुछ कर गुजरने की नीयत ने उसे बहुत जल्दी हिंदी साहित्य की केंद्रीय पत्रिका के रूप में स्थापित कर दिया है। बेशक संपादकीय न होने की कमी हर अंक में खटकती है। इसके बावजूद पंकज बिष्ट का अखबारनामा, उदय प्रकाश का अप्रसांगिक तथा विष्णु खरे का फिल्मों पर स्तंभ निस्संदेह कथादेश की जिंदगी है। 'मैं और मेरा समय' स्तंभ बेशक प्रत्येक अंक में नहीं होता, लेकिन जिस अंक में शामिल होता है वहां हम लेखक/कवि की भूमिका को महसूस करते हैं कि वह अपने समय से किस प्रकार टकराता है और स्वयं को बचाकर रखता है। जून के अंक में हरिप्रकाश त्यागी को याद किया गया है। कुबेर दत्त ने उनके व्यक्तित्व, उनके चित्रकार और कवि रूप को प्रस्तुत करते हुए श्रद्धांजलि दी है। गौरतलब है कि चित्रकार हरिप्रकाश त्यागी का कुछ अरसा पहले देहांत हो गया था। वह यारों के यार, खिलंदड़े लेकिन अपने काम (चित्रकला समीक्षा आदि) की गंभीर समझ भी रखते थे। विनोद कुमार शुक्ल और संजय कुंदन की कविताएं, पंकज बिष्ट का स्तंभ अखबारनामा, शेखर जोशी, नरेंद्र नामदेव, सुरेश उनियाल और जितेन ठाकुर की कहानियां हैं। पुस्तक समीक्षाएं भी हैं।

शेष पत्रिका के अब तक तेरह अंक निकले हैं। शेष के संपादक हसन जमाल खास तरह का काम कर रहे हैं। वह हर अंक को विशिष्ट और किसी खास तरह के साहित्य पर केंद्रित करते हैं। मसलन अंक-10 अरबी अदब (साहित्य) पर केंद्रित था। इससे पूर्व सराइवो-बोस्निया पर अंक था। उससे पहले राजस्थानी कथाकारों पर केंद्रित। दरअसल, हसन जमाल की सद्भावना यह है कि वह उर्दू में पढ़ी हुई चीजें हिंदी पाठकों तक पहुंचा रहे हैं। उर्दू जानने वाले दुनिया भर में फैले हैं। यानी हिंदी साहित्य उतना विराट नहीं जैसा कि उर्दू अदब ! ... अंक-11 पाकिस्तानी कवयित्रियों पर केंद्रित था। फहमीदा रियाज, सारा शिगुफ्ता, किश्वर नाहीद, अजरा अब्बास आदि की नज़्में, खतो-किताबत, रिपोर्टाज शामिल थे। शम्सुर्रहमान फारूकी और शहजाद मंजर के लेख उपलब्धि के तौर पर गिनाए जा



सकते हैं। नज़्में बहुत अच्छी थीं। ग़ज़लें भी अधिकांश शाइरात लिखती हैं। लेकिन अंक में नज़्मों को केंद्रित किया गया था। इस कमी (ग़ज़ल की कमी) को अंक-13 में पूरा करने का प्रयास है। पाकिस्तान के सलीम अहमद, नज़ीर सिद्दीकी, साबिर ज़फ़र, अनवर शऊर, शबनम शकील की ग़ज़लें तथा नसीर अहमद नासिर, अहमद हमेशा, सलीम कौसर, सहरअली और अनवार



फ़िरतर की नज़्में शामिल हैं। उर्दू नज़्म हिंदी कविता की तरह निरंतर अपना मुहावरा बदलने के प्रयास में रही है। दुरूहता अब भी उर्दू नज़्म में है, बेशक रवानी हिंदी कविता से कहीं अधिक है। इन उर्दू नज़्मों को बार-बार पढ़ना अच्छा लगता है। इसी अंक में कुछ कहानियां और लेख भी दमदार हैं। 'फसादात और फनकार' तथा 'जंगे आजादी और नावेल' विशेष रूप से विचारोत्तेजक लेख हैं।

आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद, शेष पत्रिका जोधपुर से निकल रही है तो कांकरोली जैसे छोटे शहर से *संबोधन* को कमर मेवाड़ी निकालते चले आ रहे हैं। *संबोधन* बत्तीस वर्षों से प्रकाशित हो रही है। तंगदामानी और तंगदस्ती के चलते *संबोधन* के अब वर्ष में दो ही अंक निकल पाते हैं। लेकिन *संबोधन* का प्रत्येक अंक अपनी साफ-सुथरी छवि और रचनात्मक वातावरण निर्मित करने का सद्प्रयास प्रतीत होता है। संपादकीय में आज के लहलूहान और बदहवास माहौल पर चिंता व्यक्त की गई है- 'साम्राज्यवादी षडयंत्रों, सांप्रदायिक शक्तियों के कुचक्रों एवं जातिवादी राजनीति की घिनौनी साजिशों के प्रति भी सतर्कता आवश्यक है।' बहरहाल *संबोधन-98* में तीन साक्षात्कार हैं- नंद चतुर्वेदी से शंभुगुप्त की बातचीत तथा यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' से राजेंद्र सिंह जोन की बातचीत में साहित्यिक, राजनैतिक और सामाजिक परिदृश्य संबंधी प्रश्नों से जूझने की भरपूर तैयारी नजर आती है। हेतु भारद्वाज का डायरी अंश, समीक्षाएं, देवेंद्र चौबे और परदेसी राम वर्मा की कहानियां हैं। स्वयं प्रकाश और विष्णुचंद्र शर्मा के लेख हैं। स्वयं प्रकाश और विष्णुचंद्र शर्मा बिना लाग लपेट के सीधी, मारक भाषा का इस्तेमाल करते हुए अपनी बात कहते हैं।

दस्तावेज आलोचना और कविता केंद्रित संजीदा और वैचारिक



पत्रिका है। *दस्तावेज* के 78 अंक निकलना, किसी लघु पत्रिका के लिए गर्व की बात हो सकती है लेकिन *दस्तावेज* के संपादक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी किसी प्रकार का गुमान नहीं पालते। वह सहज ढंग और ढब से *दस्तावेज* को निरंतर निकालते चले आ रहे हैं। *दस्तावेज* ने कुछ अरसा पूर्व साहस भरा काम किया। गीत-ग़ज़ल अंक निकाला। आलोचना

केंद्रित पत्रिका, सर्वथा उपेक्षित विधाओं- गीत-ग़ज़ल पर अंक नियोजित करे, यह लगभग दुस्साहस ही था। बेशक *दस्तावेज* का गीत-ग़ज़ल अंक चर्चित और विवादस्पद भी रहा। लेकिन विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की छवि इतनी बेबाक और स्पष्ट है कि वह विवादास्पद नहीं होते, न होना चाहते हैं ... । इधर उन्होंने बंगला साहित्य, बंगाली रचनाकारों के साक्षात्कार, कविताएं इत्यादि *दस्तावेज* में देने शुरू किए हैं। ऐसी चीजों का व्यापक स्वागत हुआ है। *दस्तावेज-78* में संपादकीय विचारोत्तेजक है- 'मनुष्य की संवेदना का विस्तार केवल दलित-शोषित मनुष्य तक ही नहीं होना है बल्कि उस मानव सृष्टि तक होना है, जिसके पास अपनी व्यथा सुनाने के लिए, मनुष्य की भाषा भी नहीं है। रचना का लक्ष्य है मौन को मुखर करना। सन्नाटे को शब्द देना। जिनके पास भाषा नहीं है उन्हें भाषा देना ... साहित्य का महाभाव करुणा है। ... दुनिया में अधिकांश कार्य भाव से होते हैं, विचार से नहीं।' अंक में विभूतिभूषण वंद्योपाध्य तथा जय गोस्वामी के लेख हैं। बंगला भाषा के चर्चित लेखकों की रचनाएं प्रस्तुत करना *दस्तावेज* का महत्वपूर्ण प्रयास समझा जाएगा। के. सच्चिदानंद की कविताएं तथा देवेंद्र सत्यार्थी पर प्रकाश मनु का संस्मरण पठनीय है।

रंग-प्रसंग का प्रवेशांक जून में प्रकाशित हुआ है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की यह पत्रिका रंगमंच/नाट्यकर्म के चिंतन विश्लेषण दिक्कतों आदि को मद्देनजर रखते हुए प्रयाग शुक्ल के संपादन में निकाली गई है, जिसने अपने पहले अंक से ही साबित किया है कि दृष्टि स्पष्ट हो तो सरकारी संस्थान से भी उत्कृष्ट रूप से पत्रिका का संपादन किया जा सकता है। प्रयाग जी की मंशा साफ और विस्तृत है। अगले अंकों में संगीत/चित्रकला पर भी सामग्री देने की घोषणा स्तुत्य है। प्रवेशांक में इब्राहीम अल्काजी का साक्षात्कार अंक की उपलब्धि है। जे.एन. कौशल के संस्मरण

तथा 'कहानी के भीतर से उभरता कहानी का रंगमंच' लेख देवेंद्रराज अंकुर का है। देवेंद्र जी ने इधर नए प्रयोग किए हैं। महेंद्र भल्ला का लेख 'मैंने नाटक क्यों लिखा' भी पठनीय और दिलचस्प लेख है। प्रवेशांक में शंभु मित्र को याद किया गया है। उनकी स्मृतियां जीवंतता के साथ नेमिचंद्र जैन ने व्यक्त की हैं। सिनेमा पर विनोद भारद्वाज तथा टेलीविजन पर सुधीश पंचोरी के लेख हैं। विनोद भारद्वाज ने फ्रांसीसी फिल्मोत्सव की कुछ लघु फिल्मों पर चर्चा की है। फ्रांसीसी लघु फिल्म पर्स का विश्लेषण विनोद भारद्वाज ने सलीके से किया है। सुधीश पंचोरी ने टी.वी. से संबद्ध अपनी टिप्पणियों में भाषा को अनेकार्थी बनाया है— चुटौली, आक्रामक, खिलंदड़ी, लेकिन भीतर से दर्द पैदा करती। नंदकिशोर आचार्य का विशेष लेख 'रंगमंच: समांतर संप्रेषण प्रक्रिया' अकादमिक लेकिन गंभीर लेख है।

पल प्रतिपल पत्रिका ने तरक्की के कई सोपान तय किए हैं। देश निर्मोही ने कुछ वर्ष लगन के साथ उद्यम करते हुए साल में तीन-चार अंक निकाले। अब एक या दो। इसके बावजूद पल प्रतिपल अपनी अहमियत रखती है। प्रस्तुत अंक में रवींद्र वर्मा के उपन्यास *नित्यानवे* का अंश, गुरदयाल सिंह का संस्मरण, सत्यपाल गौतम का यात्रा संस्मरण, तारा पांचाल की कहानी तथा भुवनेश्वरी प्रताप और प्रदीप सक्सेना की खतो-किताबत है। पुरुषोत्तम अग्रवाल से अरुण देव की बातचीत है। पुरुषोत्तम अग्रवाल को हाल ही में देवीशंकर अवस्थी सम्मान से सम्मानित किया गया। बातचीत पुरस्कारों, आलोचनाकर्म, उत्तर आधुनिकता जैसे विषयों पर गंभीर विमर्श है। ललित कार्तिकेय की कविताएं अंक में शामिल हैं, जो नए मिजाज और मुहावरे की हैं।

अक्षर पर्व के दीवाली तथा नववर्ष अंकों ने साहित्यिक जगत में उत्तेजना पैदा की थी। शब्द और सत्य को लेकर गंभीर बहस थी। प्रस्तुत जुलाई अंक यों तो सामान्य अंक है लेकिन सामग्री की दृष्टि से जुलाई अंक गंभीर और संतुलित अंक है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह कि मासिक अक्षर पर्व अक्षर को यानी साहित्य को तरजीह देता है। शैलेंद्र चौहान का लेख 'विज्ञान एवं साहित्य के आपसी संबंध' तथा जयप्रकाश का 'भाषा की तीसरी लहर' गंभीर विश्लेषणात्मक लेख हैं। लोकार्का की कविताएं हैं जिनका अनुवाद शानी ने किया है। अंक में सबसे महत्वपूर्ण असद जैदी का साक्षात्कार है। समकालीन हिंदी कविता संबंधी उनके विचार गौरतलब हैं।

सारंग का प्रवेशांक जून 98 में प्रकाशित हुआ है। मैनेजर पांडेय और पुरुषोत्तम अग्रवाल के आलोचना संबंधी लेख हैं। विजय की कहानी, बलराम तथा भीमसेन त्यागी की कहानी संबंधी घिसी हुई पुरानी बातें, गीत-गुल्लें और लघु कथाएं शामिल हैं। अभी पत्रिका का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया।

यू.एस.एम. पत्रिका गत चौदह वर्षों से प्रकाशित हो रही

है। प्रस्तुत अंक युवा व्यंग्यकार विशेषांक है जिसके अतिथि संपादक प्रेम जनमेजय हैं।

समकालीन जनमत के जून अंक में ब्रेख्त की एक अच्छी कविता— 'मेरा नाम क्यों लिया जाता रहे' छपी है। संपादकीय में परमाणु विस्फोटों की व्यर्थता पर विचारोत्तेजक बातें हैं। इन्हें पढ़ा जाना जरूरी है। सम्मानित हुए कवि पंकज चतुर्वेदी का वक्तव्य, उनकी कविताएं तथा कृष्णकुमार का लेख 'स्कूल की हिंदी यानी हिंदी की घंटी' लेख अंक के महत्वपूर्ण सामग्री हैं।

प्रस्ताव का गुजल अंक प्रकाशित हुआ है। गुजल संबंधी लेख अति सामान्य हैं। पूरे अंक में गुजल की तीन सौ साल की परंपरा को नकारने की कसरत है। दुष्यंत को एक परंपरा के रूप में देखने की चेष्टा व्यर्थ है। दुष्यंत ने हिंदी भाषी गुजलों को पहचान जरूर दी लेकिन उन्होंने भी उर्दू की रिवायती और जदीद शायरी से गुजल का शऊर हासिल किया। इस अंक से यह भी पता चलता है कि हिंदी की गुजलें जैसी भी हों, ऐसे गुजलकारों (विशेष रूप से मंचीय) का गद्य बहुत खराब है। इसके बावजूद जहीर कुरैशी का साक्षात्कार उनके अनुभव को दर्शाता है। कुछ गुजलें अच्छी हैं। उर्मिलेश जैसे गुजलकारों की गुजलें असंतुलित हैं। एक शेर उत्कृष्ट तो उसी गुजल में दूसरा या तीसरा शेर निकृष्ट ! चूंकि निकृष्टता मंच की जरूरत है।

अक्षर का संपादन उत्तरदायित्व गोविंद मिश्र ने स्वीकार लिया है। वह एक वरिष्ठ कथाकार/उपन्यासकार तो हैं ही, बदलते साहित्यिक/सामाजिक परिदृश्य और उसके यथार्थ की भी उन्हें गहरी समझ है। अंक 39 में उन्होंने अपने संपादकीय में खराब कविता के प्रति चिंता व्यक्त की है। उनके द्वारा अक्षर अच्छे रूप में निकलेगी, इसकी संभावना दिखती भी है। उनकी आगामी योजना में 'प्रेम कहानी अंक' तो है ही। संभवतः इसलिए कि हमारे समाज में सबसे अधिक क्षति प्रेम की हुई है। प्रेम— पूरी कायनात से, सृष्टि से, मानवता से। बहरहाल अंक 39 में गेब्रियल गार्सिया मार्क्वेज की कहानी, निर्मल वर्मा का निबंध (बिल्कुल वैसा, जैसा कि वह हमेशा से लिखते आ रहे हैं) जोगिंदर पाल तथा महेश कटारे की अच्छी कहानियां तथा राजकुमार कुंभज और सुनीता जैन की कविताएं दमदार हैं।

रूहन का तीसरा अंक मनीष दूबे ने समझदारी और शऊर के साथ निकाला है। बेशक अंक विलंब से निकला है। दो महत्वपूर्ण साक्षात्कार हैं— कबीर को केंद्र में रखते हुए। राणाखान तथा प्रहलाद टिप्पण्या के साक्षात्कार क्रमशः गोमती प्रसाद विकल तथा आशीष त्रिपाठी ने लिए हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण साक्षात्कार मार्क्वेज का है जिसका बड़िया अनुवाद मनीष दूबे ने किया है। रमेश चंद द्विवेदी ने फिराक पर संस्मरणात्मक लेख लिखा है। फिराक पर अचानक बहुत ज्यादा लिखा जाने लगा है। कविताएं और गुजलें भी अंक में हैं। लोक बाबू का उपन्यास अंश भी शामिल है। □

पहला पाठ

सत्यभूषण वर्मा

माताजुरो याग्यू एक प्रसिद्ध योद्धा का पुत्र था। पिता की आकांक्षा के विपरीत माताजुरो खड्ग विद्या में कुशलता प्राप्त न कर सका। एक दिन पिता की ताड़ना से अपमानित होकर वह घर से भाग निकला और किसी अच्छे गुरु की खोज में बांजो के पास जा पहुंचा। बांजो से उसने उसे अपना शिष्य स्वीकार करने का अनुरोध करते हुए अत्यंत विनम्र भाव से पूछा, "मुझे एक कुशल योद्धा बनने में कितना समय लगेगा?"

'दस वर्ष !' बांजो ने कहा।

पर अगर मैं परिश्रम और लगन से सीखूँ, "तो?" युवक माताजुरो ने अधीर होकर प्रश्न किया।

"बीस वर्ष" बांजो ने उत्तर दिया।

"मेरे पिता बूढ़े हो रहे हैं। मुझे उनका स्थान लेना है। मैं इतनी लंबी प्रतीक्षा नहीं कर सकता। अगर मैं दिन-रात श्रम और अभ्यास करता रहूँ तो कितने समय में सब कुछ सीख सकता हूँ।"

"तुम जीवन-भर नहीं सीख सकते। जो सीखने में जल्दी परिणाम चाहता है,

वह कुछ भी नहीं सीखता। किसी कला पर अधिकार पाने के लिए धैर्य और साधना की आवश्यकता होती है।" बांजो ने गंभीर होकर अपनी बात समझाई।

माताजुरो को लगा, वह सही गुरु के पास पहुंच गया है।

एक वर्ष बीत गया। माताजुरो श्रद्धाभाव से गुरु की सेवा करता रहा। वह गुरु के लिए रसोई बनाता, बर्तन मांजता, चौका-सफाई करता, वस्त्र धोता। इस बीच गुरु ने न तो उसे कभी तलवार को हाथ लगाने दिया और न कभी उससे उसकी शिक्षा के संबंध में कोई चर्चा ही की।

एक दिन माताजुरो रसोई में खाना बना रहा था। अपने भविष्य के संबंध में सोच-सोच कर उसका दिल डूबा जा रहा था। वर्ष से ऊपर हो चुका था उसे वहां आए। अभी तक उसकी शिक्षा आरंभ ही नहीं हुई थी। न जाने गुरु के मन में क्या है? वह यहां से जाए भी तो कहां जाए! घर लौट कर पिता को भी वह क्या मुंह दिखाएगा? अचानक उसकी पीठ पर छड़ी की चोट पड़ी उसने मुड़कर देखा तो गुरु छड़ी झुलाते हुए रसोई घर से बाहर जा रहे थे। वह समझ न पाया कि उससे क्या भूल हुई थी, जिसके लिए उसे छड़ी की मार खानी पड़ी।

अगले दिन जब वह वस्त्र धो रहा था, फिर उसकी पीठ पर छड़ी आ लगी। तीसरे दिन छड़ी उसके कंधे पर लगी। फिर तो यह एक क्रम ही बन गया। कब, कहां से, शरीर के किस अंग पर छड़ी आ लगेगी, इसका कोई ठिकाना न था। वह हर समय चौकन्ना रहने लगा। गुरु के आने की हल्की-सी आहट से भी वह चौंक उठता।

एक दिन गुरु ने उसे सीने से लगा लिया और बोले, "तुमने प्रहार करने वालों से सतत सावधान रहने का पहला पाठ सीख लिया। आज से मैं तुम्हारी शिक्षा आरंभ कर रहा हूँ।"

देखते-देखते माताजुरो याग्यू नामक उस युवक की गणना देश के सर्वश्रेष्ठ योद्धाओं में होने लगी। □



देखांकन : दुर्गादत्त पांडेय



“स्वाधीनता जब अपने
सर्वोत्तम रूप में प्रकट होती
है तब उसके साथ-साथ
सर्वोच्च रूप में अनुशासन
और विनम्रता भी रहती है।”

— महात्मा गांधी

महात्मा गांधी की 129 वीं जयंती
2 अक्टूबर, 1998

बाल-साहित्य पर एक सार्थक चिंतन

हरिकृष्ण देवसरे

हिंदी में आज जहां प्रचुर मात्रा में बाल-साहित्य का लेखन प्रकाशन हो रहा है, वहीं यह भी जरूरी है कि उस पर लेखकों, प्रकाशकों और समीक्षकों के बीच विस्तार से चर्चा भी हो ताकि आज के बाल-साहित्य की गुणवत्ता की परख हो सके और उसकी दशा तथा भावी संभावनाओं का भी पता चल सके। इस संबंध में पिछले तीन-चार वर्षों से, बच्चों की अग्रणी संस्था 'राष्ट्रीय बालभवन'; काफी सक्रिय है। बालभवन द्वारा हर वर्ष दो दिवसीय साहित्यिक-गोष्ठी का आयोजन किया जाता है- जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों के साथ-साथ प्रकाशक, संपादक और बच्चे भी हिस्सा लेते हैं। इस गोष्ठी में विभिन्न मुद्दों पर बाल-साहित्य लेखकों आदि से आलेख पढ़ाए जाते हैं और उन पर विचार-विमर्श होता है। इन्हीं आलेखों को बाद में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाता है। *त्रिविधा*, *त्रिधारा* के बाद उनकी तीसरी पुस्तक *त्रिपदा* प्रकाशित हुई है। 'बालभवन' द्वारा आयोजित गोष्ठी के पीछे, उसकी सोच को व्यक्त करते हुए, *त्रिपदा* के आमुख में कहा गया है- 'आज की परिस्थिति में जहां 'बालक' पारिवारिक विघटन के कारण स्वयं को एकाकी महसूस करता है, जहां उसकी साहित्यिक भूख को संतुष्ट करने वाले पर्याप्त संसाधन नहीं हैं, जहां बदलते हुए सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में वह अपने आप को उपेक्षित महसूस करता है, जहां परीक्षा का भय है तो पाठ्यक्रम का तनाव है, जहां प्रतिस्पर्धा तथा आपसी होड़ के कारण बालक तनाव में जी रहा है- उसके परिवेश को उन्नत करने की कोई एक ऐसी पृष्ठभूमि देना जरूरी ही नहीं, अनिवार्य है ताकि वह अपने आप को आने वाले समय के लिए तैयार कर सके। यदि राष्ट्रीय बालभवन के सहयोग से एक ऐसा उपक्रम तैयार हो रहा है जिसमें बच्चों के अनुभवों को समृद्ध करने की तथा उसे आधुनिक जगत के प्रति चेतन करने की कोशिश की जा रही है तो यह अपने आप में एक महान कर्त्तव्य है।'

आज के समाज में बच्चों की जो स्थिति है, वह काफी विवादास्पद है। बदलते जीवन मूल्य, समाज में फैला हुआ झूठ

और भ्रष्टाचार का बोलबाला, परंपराओं का मोह और नई सदी की चुनौतियां- इन सबके बीच फंसे बच्चे को अपना वह भविष्य निर्धारित करना है- जिसको अनिश्चित, विकृत और अशांतिपूर्ण बनाने में वर्तमान पीढ़ी कोई कसर बाकी नहीं रख रही। मधु पंत ने इसीलिए अपने लेख में चिंता व्यक्त की है- 'हमने इस नन्हे बाल-मन की बिल्कुल अवहेलना कर दी है... एक ओर हमने छीन लिए हैं उसके सपने और अपने, और दूसरी ओर छोड़ दिया है, उसे अकेला अपनी समस्याओं से जूझने के लिए। संयुक्त परिवार की लड़खड़ाती हुई स्थिति और न्यूक्लियस पारिवारिक व्यवस्था में बच्चा अपने आप को नितांत असहाय पाता है। आज इस बदलते युग में जहां एक दूसरे से आगे जाने की होड़ में हम अपनी परंपरा, संस्कार, नैतिक मूल्य, संस्कृति-सब कुछ भूल चुके हैं, बालक के पास कुंठा, उपेक्षा और क्षुब्ध होने के अलावा कुछ नहीं है।'

दूसरी ओर परिवार में भी बच्चे की स्थिति कुछ बहुत अच्छी नहीं है। इंदिरा कुलश्रेष्ठ 'नूपुर' ने अपने लेख में उन मुद्दों को उठाया है जिनका संबंध अभिभावक और बच्चों के रिश्ते से है। इस रिश्ते में बाल-साहित्य सुलभ कराने का भी प्रश्न जुड़ा है- क्योंकि बच्चे को पुस्तकें खरीदने की प्रेरणा और धन-दोनों ही अभिभावकों द्वारा दिया जाता है। लेकिन 'अभिभावकों को हमेशा यह चिंता सताती रहती है कि बच्चों ने होमवर्क कर लिया है या नहीं। कहीं उनके बच्चे की पोजीशन न खराब हो जाए। और इस चिंता में घुलते रहने के कारण अतिरिक्त पुस्तकों की ओर बच्चे का ध्यान बंटाना क्या उचित होगा? इस ऊहापोह में पड़े बेचारे अभिभावक यदि कभी बच्चे को कोई कहानी की पुस्तक पढ़ते हुए देखते हैं तो उनकी आंखों में बच्चे के भविष्य संबंधी ढेर सारे प्रश्न उभर आते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कोर्स की किताबें पढ़कर बच्चा कक्षा में उत्तीर्ण तो हो जाएगा, किंतु कल्पना के पंखों पर वह उड़ नहीं सकेगा। बस, पिंजरे में बंद पक्षी की तरह पंख फड़फड़ाकर रह जाएगा।'

एक और सवाल इस पुस्तक में उठाया गया है कि आखिर आज के बच्चों में पठनशीलता का अभाव क्यों है? उनकी इस कमी को कैसे पूरा किया जा सकता है और यह दायित्व किसका

त्रिपदा : संपादक : मधु पंत; प्रकाशक : राष्ट्रीय बाल भवन, कोटला रोड, नई दिल्ली. पृष्ठ संख्या : 118. मूल्य : 150 रुपये।

है। सुरेखा पाणदीकर ने यह जिम्मेदारी स्कूलों और अध्यापकों की बताई है। वह कहती हैं कि अगर स्कूल में बच्चों को पुस्तकें पढ़ने के लिए उत्साहित किया जाए, तो बच्चे निश्चित ही पढ़ेंगे, क्योंकि अध्यापक का कहना उनके लिए बस वाक्य या 'अल्टीमेट ट्रुथ' होता है। लेकिन दूसरी ओर सुरेखा जी इस सच्चाई पर भी प्रहार करती हैं कि आजकल अध्यापकों को पता ही नहीं होता है कि कौन-सी पुस्तकें बच्चों को देनी चाहिए, कौन-सी और कैसी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। इसलिए उनका सुझाव है कि अध्यापकों की ट्रेनिंग में बाल-साहित्य विषय होना चाहिए। जब यह विषय और देशों में है, तो हमारे यहां क्यों नहीं है? सुरेखा जी ने एक और बात कही है कि अध्यापकों के साथ-साथ लायब्रेरियनों की भूमिका भी, बाल-साहित्य को बच्चों तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण है। इस संबंध में कुछ समस्याओं की ओर संकेत करते हुए, बाल-पुस्तकालयों और लायब्रेरियनों के लिए, विजय गुप्ता ने सुझाव प्रस्तुत किए हैं। पर उनकी बात पूरे लेख में अधूरी-अधूरी-सी लगती है।

बच्चों के हाथों तक बाल-साहित्य कैसे पहुंचे? अभिभावकों द्वारा, अध्यापकों और लायब्रेरियनों द्वारा। इस बात को शेरजंग गर्ग ने बड़ी गंभीरता से अपने लेख में आगे बढ़ाया है। उनका एक बुनियादी प्रश्न विचारणीय है कि अभिभावकों, अध्यापकों आदि को अच्छे बाल-साहित्य की सूचना कहां से मिले? इस दयनीय स्थिति की ओर संकेत करते हुए वह कहते हैं- 'दैनिक पत्रों के रविवारीयों में बच्चों के पन्नों में बालोपयोगी सामग्री छपती है। जनसत्ता, दैनिक हिंदुस्तान, अमर उजाला आदि में बच्चों की पुस्तकों की समीक्षा नहीं छपती। कैसी विडंबना है कि महिलाओं की पत्रिकाओं तक में बच्चों की पुस्तकों की चर्चा नहीं होती।'।

आज जो बाल-साहित्य विभिन्न विधाओं में छप रहा है- उसका प्रणयन वास्तव में एक चुनौती है। स्थिति का निराशाजनक पहलू सत्येंद्र वर्मा के लेख में मिलता है, जब वह कहते हैं- 'आज का बाल-साहित्यकार पारंपरिक कथाओं के मकड़जाल से आगे नहीं निकल पा रहा है। समय बदल गया है, फिर भी आज बहुत सारे लेखक पौराणिक कहानियों, लोककथाओं तथा राजा-रानी संदर्भित कहानियों तक अपने को सीमित किए बैठे हैं।' दूसरी ओर बालकथा लेखन के समक्ष उपस्थित चुनौतियों में इंद्रसेन शर्मा वारिज ने आज परीकथाओं की सार्थकता पर लगे प्रश्नचिह्न की विशेष रूप से चर्चा की है- 'इस वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए बच्चों की आवश्यकता और रुचि के परिप्रेक्ष्य में परियों, राजा-रानियों, भूत-प्रेतों आदि से प्रेरित कहानियों पर प्रश्नचिह्न लगने लगा। इनके उत्तर में कुछ लेखकों, संपादकों ने हैंस एंडरसन की परीकथाओं की बात कही। किंतु वे भूल गए कि हैंस एंडरसन की कहानियां पूर्णतः जीवन से जुड़ी थीं, परिवेश के एकदम निकट थीं, उनमें एक ताजगी थी। किंतु भारतीय परीकथाओं को वास्तविक जीवन से जोड़ने का न ही हम कोई निश्चित विचार बना पाए

हैं और न ही हमने ऐसा कोई प्रयास किया।'

बाल-कविता के समक्ष आज की चुनौतियों को प्रकाश मनु ने बड़े ही संतुलित तरीके से प्रस्तुत किया है और इस जरूरत की तरफ संकेत किया है कि बीसवीं सदी की बाल-कविता पर एक बड़ा और ऐतिहासिक महत्व का ग्रंथ आए जिसमें सभी महत्वपूर्ण कवियों की प्रतिनिधि कविताएं हों।'

रमेश तैलंग ने अपने लेख के अंत में एक महत्वपूर्ण मुद्दा उठाया है- 'बाल-साहित्य लेखन की गरिमा' का। कई इतर भाषाओं में जिस तरह किसी भी लेखक को बड़ा लेखक तब तक नहीं माना जाता जब तक उसने पर्याप्त बाल-साहित्य का सृजन न किया हो उसी तरह इस परंपरा का वहन हिंदी में भी होना चाहिए। इस बात को बहस-मुबहसों में कई-कई बार उठाया जाता रहा है। अब उसका सार्थक रूप आना चाहिए।' रमेश तैलंग के इस प्रश्न को आगे बढ़ाया है बालस्वरूप राही ने अपने लेख 'बड़े लेखक बच्चों के लिए क्यों नहीं लिखते?' में। मैं समझता हूं कि प्रश्न होना चाहिए था- 'बड़ों के साहित्य-लेखक' न कि 'बड़े लेखक' -क्योंकि ऐसा कहकर बच्चों के लेखक को छोटा या बचकाना कहना, संकीर्ण नजरिए का द्योतक होगा।' हालांकि राही जी ने विषय का आशय समझा है और इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया है- 'यदि यह सच है कि वे बाल-साहित्य को हेय मानकर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं, तो यह बाल-साहित्य की महत्वहीनता नहीं, बल्कि उनकी सोच का ओछापन है। घटिया बाल-साहित्य नहीं, बल्कि उनकी मानसिकता है। मुझे विश्वास है कि बड़े साहित्यकार आमतौर पर ऐसा नहीं सोचते, पर मुझे खेद है कि संस्थाएं अवश्य सोचती हैं। कोई भी संस्था ऐसी नहीं है, जो बाल-साहित्य को बड़ों के साहित्य के और बाल लेखकों को बड़े लेखकों के समतुल्य और समकक्ष मानती है। बड़े अफसोस की बात है कि जहां बड़ों के साहित्य के लिए लाखों रुपये लुटाए जाते हैं, बड़े-बड़े पुस्तकारों की बौछारें होती हैं वहां बालसाहित्यकारों के हाथों में पांच-दस हजार रुपयों की राशियों के लालीपोंप थमा दिए जाते हैं। छोट-छोटे पुरस्कारों के झुनझुने पकड़ा दिए जाते हैं। बाल-साहित्यकारों की आवाज नक्कासखानों में तूती की आवाज मानी जाती है। यह स्थिति राष्ट्र के लिए अशोभनीय ही नहीं, शोचनीय भी है।' इस महत्वपूर्ण टिप्पणी के लिए राही जी को साधुवाद। बाल-साहित्य की उपेक्षा ने अच्छी रचनाओं को भी अब तक रेखांकित नहीं होने दिया है। यही कारण है कि हमारे यहां, एनिड ब्लाइटन, मार्क ट्वेन, एंडरसन जैसा सम्मान किसी लेखक को नहीं मिला, क्योंकि न तो श्रेष्ठ रचनाओं को पढ़ा जाता है, न उनका मूल्यांकन होता और न उनकी समीक्षा छपती है।

हिंदी बाल-साहित्य में समीक्षा की स्थिति की बेबाकी से चर्चा की है सुरेंद्र विक्रम ने अपने लेख में। वह जहां कहते हैं- 'प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ वर्षों में बाल-साहित्य समीक्षा

का काम आगे बढ़ा है', वहीं वह इस सत्य से भी इंकार नहीं करते कि 'बाल-साहित्य लेखन में समीक्षक को वह स्थान प्राप्त नहीं है, जिसका वह अधिकारी है।' इसके साथ ही वह मुखर होकर यह भी स्वीकार करते हैं कि 'बाल-साहित्य पर समीक्षात्मक आलेख लिखते समय कई समीक्षक उन्हीं रचनाकारों का उल्लेख करते हैं जो रचनाकार उनके गुट के होते हैं। उन्हीं रचनाकारों की रचनाएं उद्धृत करते हैं जो उनके आसपास चक्कर लगाया करते हैं। ऐसी भावना बड़ी घातक है और इससे बाल-साहित्य समीक्षा कटघरे में आ गई है।' बाल-साहित्य समीक्षा नाम की कानपुर से प्रकाशित पत्रिका- समीक्षा के क्षेत्र में आज तक कोई मानक स्थापित करने में सक्षम नहीं हुई है- इसीलिए सुरेंद्र विक्रम ने लिखा है- 'बाल-साहित्य समीक्षा की कोई स्तरीय पत्रिका नहीं है। अपने सौमित्र साधनों में कानपुर से निकलने वाली पत्रिका बाल-साहित्य समीक्षा अवश्य दीपक की लौ की तरह टिमटिमा रही है।'

त्रिपदा में आज के बाल-साहित्य से जुड़े इन तमाम महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया जाना बहुत जरूरी था और इसके माध्यम से बाल-साहित्य का सही स्वरूप निर्मित होने में अवश्य मदद मिलेगी। दरअसल बाल-साहित्य पर ऐसी सार्थक बहसें ही जहां उसका प्रखर रूप सामने आएंगी- वहीं बाल-साहित्य के नाम पर पुरानी सामग्री के पुनर्लेखन द्वारा कूड़े का ढेर लगाने वाली प्रवृत्ति को भी हतोत्साहित करेंगी। यह पुस्तक बाल-साहित्य, बच्चों के संसार और बालकल्याण से जुड़े लोगों के साथ-साथ शोधार्थियों के लिए भी उपयोगी है। संपादक मधु पंत की यह आशा भी बड़ी सार्थक है- त्रिपदा की इस कृति के साथ हम सब अपने को, अपने विकारों को होमकर, निश्छल मन वाले बालक-सा बना लें, ताकि उसके लिए रचनाएं करते समय हम उसी की तरह निर्मल, सरल, निष्पक्ष और अलौकिक हो सकें। □

चंद्रशेखर वाजपेयी

पृष्ठ 23 से आगे

रामकवित्त-

जानकी की जननि को काहू जनी जाय कह्यो
आए दो कुमार साथ लौन्हें रिसिवर वर जू।
सुधा से बचन सुधाधर से बदन कंठ
देखै बनि आवैं यहि रूप को अगर जू।।
सेखर प्रतापी महावीर से लगत दोऊ
तरैयै पिनाक जैसे तोरियत सर जू।
जानकी को जनक को तेरो मेरो सबहिन को
प्रगट्यो सुकृत आजु आए रघुवर जू।।

यह कवित्त स्फुट रूप में रचा हुआ नहीं लगता।

कविचंद्रशेखर वाजपेयी के निधन को 123 वर्ष हो चुके हैं किंतु साहित्य जगत में अभी तक उनके कर्तृत्व का प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। यह बड़े आश्चर्य का विषय है। यह वर्ष उनकी 200वीं जयंती का वर्ष है। प्रबुद्ध पाठकों, सुधी समीक्षकों तथा भावी शोध अध्येताओं को उत्साह और लगन से इधर उन्मुख होना चाहिए। □

संदर्भ ग्रंथ :

1. हमीर हठ का उपक्रम : (जगन्नाथदास रत्नाकर)
2. हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास; संपादक : डा. भगीरथ मिश्र, सभा का 2029वां संस्करण
3. भारती भंडार, भाग-1
4. बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी
5. 'आचार्य कवि मोहन मिश्र' : उदयशंकर दुवे, सप्तसिंधु, दिसंबर 1978
6. सुधा, अप्रैल 1937
7. पंजाबी हस्तलिखितों की सूची
8. हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल
9. कविवर बिहारी : जगन्नाथ दास रत्नाकर

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001 दूरभाष : 3387876

दो शब्दों के बीच की जगह में हो रहा रक्तिम सूर्योदय

पत्थर की बेंच : चंद्रकांत देवताले; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. दरियागंज, नई दिल्ली-2; मूल्य; 95 रुपये

मैं नहीं सिर्फ शब्द, मैं उस कपट के विरुद्ध

जो टुकड़ों में बांट रहा चेहरे
मैं चुप्पी की गुहा में शंख की तरह
मैं आग की तरह जमे हुए दुःख की
बर्फाली चट्टानों में।

टूटे कपट
कद आदमी पहचाने अपना
सहारा मिले खुद को सब को
आधे से अधिक वक्त
इसीलिए शब्दों की सुरंग लगाता रहा।
मैं हूँ उन उसख्य आंखों में
जो भूखी
एक फूल पौधे की तरह
जिंदगी को पनपते देखने के लिए।”

चंद्रकांत देवताले के संग्रह पत्थर की बेंच की कविताओं को जब पढ़ते हैं तो उनमें से झलकने वाले ये कथन उनकी जिंदगी और कविता से बाहर के नहीं लगते, जिंदगी और कविता के अपने क्षेत्र से उत्पन्न लगते हैं। एक क्रूर मानव-विरोधी स्थिति में से गुजरते हुए देवताले को महसूस होता है कि आज की स्थिति में कविता कारगर नहीं हो सकती। कवि के शब्दों में-

ये शब्द जिनके लिए मुझे मर जाना चाहिए

थूक की तरह हिकारत से देखे जा रहे हैं।

और मैं जैसे अपनी जगह बदल रहा हूँ

पेट भरने और कुछ पालतू चीजें
इकट्ठी करने के वास्ते
यह मौत का डर नहीं है और
जिंदगी से प्यार तो कतई नहीं
यह एक कुत्ता जिंदगी की दहलीज पर
गड़ी हुई ऐसी नाल है
जो अब फिर से दौड़ते हुए छोड़े के
काम नहीं आ सकती।

देवताले ने कविता के संबंध में इस तरह अपनी चिंता वास्तविक सामाजिक-राजनीतिक संदर्भों में व्यक्त की गई है। कवि प्रतिरोध करना चाहता है आतंकपूर्ण, सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का। लेकिन कुत्ते की तरह चौकने रहते हुए, आवाज की छाया तक पर निगरानी रखने के बावजूद वह कविता द्वारा स्थिति में रंचमात्र भी परिवर्तन नहीं पाता है। शायद इसीलिए गूंगे बहरे पत्थरों के बीच जिंदगी के आधे से अधिक वक्त कवि का खून खौलता रहा है। यही उनका रचनात्मक तनाव भी रहा है।

वही जगह छूट जाती है, जहां कुछ हो

सकता है का रचनात्मक तनाव पहले कवि को अधिक रहा है। संग्रह पत्थर की बेंच में यह रचनात्मक तनाव कम होता प्रतीत होता है। अब देवताले के यहां- शब्द भले ही घायल हों लेकिन- दो शब्दों के बीच की जगह में रक्तिम सूर्योदय हो रहा है/ दो सूर्योदयों के बीच/ घायल शब्दों की/रक्तिमजित नदी बह रही है।

हम जब आग लगाने पर आमादा हो जाएंगे/ तो फायर ब्रिगेड नहीं/ पेट्रोल पंपों को खबर देंगे- ऐसा आत्मविस्फोट को छूता हुआ आक्रोश और नकार है चंद्रकांत देवताले में। यह आक्रोश और नकार वस्तुओं के प्रति, नैतिकता के प्रति, विधि-निषेधों और मूल्यों-मर्यादाओं के प्रति, संस्थाओं और समूची व्यवस्था के प्रति है। उनका सारा आक्रोश अमानवीयता और नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध है, यहां तर्क है, विवेक है, विचार है। वस्तु सत्यों को एक झपाटे के साथ उलांछने की प्रवृत्ति नहीं। यहां विचारधारा और सर्जक मन में अनुकूलता वाला सिद्धांत नहीं चल रहा बल्कि दोनों में संवाद और टकराव की स्थिति है। परिस्थिति और समाज से जूझते-टकराते हुए कमाई गई वैचारिकता है यह। संग्रह की कविताओं में ऐसे ही अनुभव जन्य विचारों की कौंध है। इनमें विचार का संबंध उत्पीड़ितों के प्रति करुणा से और यातना के संघर्षधर्मी होने की प्रक्रिया से जोड़ा गया है। विवश, लाचार, अभावग्रस्त जिंदगी जीने के बावजूद मुस्तेदी से जीने वाले लोगों की स्थिति का बयान करती 'सम्माननीय दर्शको' कविता की पंक्तियां देखें-

श्रीमान उनके पेट पर रात
पत्थर की तरह गिरती है
सूर्य कर्ज मांगने वाले की तरह
आ धमकता है
दोपहर कंधों और पीठ पर
शाम की तरह टूटती है
और शाम खाकी वर्दी वालों की
कुत्ता गुर्राहट की तरह
उनकी थकी पिंडलियों का
मांस नोच लेती है।
गौरतलब है कि चंद्रकांत देवताले ने

समय को शिद्दत के साथ महसूस किया है। राजनीतिक शब्दावली का उपयोग किए बिना उसे संवेदना के धरातल पर मुक्तिबोध की तरह व्यक्त किया है। वह अपने समय को मूल्य चिन्ता और गहरे संवेदन के स्तर पर कुछ इस तरह देखते-समझते हैं-

दहशत पक्षियों के पंखों पर
बच्चों की आंखों
मांओं के दूध तक में दहशत
समय की हड्डियों में
दिन डूबने की सुबह होने की
खुशियों का खून जम गया है

या

सब कुछ
जैसे मस्तिष्कहीन गूंगेपन की चपेट में
आ गया है
चीजें खतरनाक ढंग से सिमट आई हैं
कि फूलों से बंदूकें
और बच्चों से बुलडोजर सटे जा रहे हैं

शायद हम हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।
हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की प्रवृत्ति के
कारण देवताले, रघुवीर सहाय की तरह
हमको अथवा लोगों को माफ नहीं करना
चाहते। उनमें लोगों के प्रति सच्ची, निस्संग
और खास नफरत है। निश्चित ही यह प्यार

से अधिक प्रभावशाली है, क्योंकि उसका
संबंध किसी हद तक यथार्थ से है। कारण
भी है-जनता को राजनीतिक दृष्टि से जितना
सचेत होना चाहिए उतनी सचेत नहीं है।
भाषा का कपट और काले धन का उजाला
इसे चाट गया है। वह आज भी ऐसे लोगों
के अभिनंदन के लिए बगीचों को नोचने
में लगी है, जिन्हें उसने सड़क स उठाकर
सिंहासन पर बिठाया तथा बदले में इन्हीं
लोगों ने उसे सड़क पर ला बिठाया। इसलिए
जनता के प्रति उसमें नफरत भी है और
सहानुभूति भी-

अपने अदृश्य अनगिनत पैरों से
पेट पर लात मारने वाला
बस्ती में आ रहा है
उसके लिए स्वागत द्वार बनाने में जुट
जाओ
लतियाए लोगों
तुम्हारी उदारता दर्ज की जाएगी इतिहास
में।

चंद्रकांत देवताले यथास्थिति के बदलाव
के प्रति पूर्णतः आश्वस्त नहीं तो निराश
भी नहीं है। स्वप्न में ही सही लेकिन एक
चित्र उनके सामने है। वह कहते हैं- मैं
भी देखता हूँ सपने/जखम फूल बनकर तैरते
हैं समुद्री झागों में/तीर बनकर उड़ते हैं

जंगलों आकाशों में/ एक जखम पत्थर बन
तोड़ता है/शताब्दियों के जुलूम की गठान।

'गोया मैं मौत से डरता हूँ', 'यमराज
की दिशा', 'गांव तो धूक नहीं सकता था
मेरी हथेली पर' जैसी पारिवारिक कविताएं
मानवीय संलग्नता दर्शाती हैं। इनमें गांव
की पहचानी गंध है। माता-पिता की आत्मीय
स्मृति है। कवि के आत्मीय चेहरों में गांव
से आया ईमानदार श्रमिक सत्तार भी है।
अपने जहन में तैर रही स्मृतियों की अनगिनत
किश्तियों में सवार सभी लोगों से कवि
विनती करता है- कांटे कोई नहीं निकालें/
इन किश्तियों को कोई मत डूबने दें।

इन कविताओं की- 'मैं एक आईने के
भीतर सो गया', 'पत्थर सुड़प रहे थे पानी,
धूप चाट रही थी उफनते झाग', 'चंद्रमा
के चूर्ण से बनाया शरबत', 'रात पत्थरों
को पीसती है', कुत्ते के रूदन का प्राचीन
शिलालेख', जैसी कथन भंगिमाएं हमें
चमत्कृत तो जरूर करती हैं लेकिन अर्थ
तक नहीं पहुंचाती। इनसे बचने के साथ
ही 'शांति संगठन के सांड', 'लतियाए हुए
लोगों' जैसे चालू मुहावरों से भी देवताले
को बचना होगा।

-शतानंद श्रोत्रिय

पात्र

पृष्ठ ० से जानें

बेवकूफी भरी उक्ति के
लिए वह दया के पात्र हैं।
अंधे ने लालटेन को नकारा
है, तो एक स्वाभाविक बात
है। और ये पश्चिमी देश, जो
इनके द्वारा अपने 'कुल-धर्म'
को नकारने के कारण इन्हें
प्रचार और पैसा देते हैं,
संरक्षण देते हैं- वह भी
बिल्कुल स्वाभाविक है। कहीं
से रूस की कमर तोड़कर
कोई गोर्बाचोव आ जाए, कहीं
से मार्कोस आ जाएं; सबका

वहां स्वागत है।

रही बात सत्साहित्य की-
तो इसका अर्थ गीता प्रेस का
उपनिषद् नहीं होता है। हिंदी
भाषा में जीवन जगत से
सीधा ताल्लुक रखने वाले
कथाकार कवि आज कम हो
रहे हैं। अधिकांश शहरी
जिंदगी की पिटी-पिटाई
समस्याओं पर लिख रहे हैं,
जो सिनेमा की तरह अब
तकनीक प्रधान होता जा रहा
है। राजनीति, साहित्य को
प्रेरणा पहले भी देती थी-
अब वह साहित्य पर

आधिपत्य कर चुकी है। चाहे
प्रगतिशीलता की नीति हो या
अगड़ा-पिछड़ा भावना की
राजनीति, अब बतौर आंदोलन
के साहित्य में प्रवेश कर
चुकी है। दलबंदी, गिरोहबंदी
को आधार बनाकर लेखन,
प्रकाशन, समीक्षा, पुरस्कार
आदि की व्यवस्था में हर दल
के लिए अपना-अपना
सत्साहित्य है। आंदोलन
(शायद प्राचीन संस्कारों के
विरुद्ध) के तहत सेक्स को
कहानियों में परोसा जा रहा
है। अपने मूल से कटकर ये
साहित्यकार 'कुछ नया' करने

के नाम पर ऐसे कई
सत्साहित्य कर रहे हैं। और
तो और-छोटा मुंह बड़ी बात
कहने को बाध्य हूँ कि मुंशी
प्रेमचंद द्वारा स्थापित हंस के
संपादक राजेंद्र यादव, अब
वह साहित्यकार नहीं रह गए
हैं, जो अपने पुराने उपन्यास/
कहानियों में दीखते हैं। उन्होंने
पत्रिका को भी नारी उद्धार
और दलित चेतना का एक
राजनैतिक हथियार बना डाला
है।

-कमला प्रसाद 'बेखबर',
फारबिसगंज

MORE JOB OPPORTUNITIES IN YOUR WEEKLY JOURNAL



Employment News/Rozgar Samachar brings you more job/job improvement opportunities in the Centre/State Governments, Public Sector Undertakings, Army/Air Force/Navy/Police, UPSC, SSC, Banks, Railways and provides you up-to-date information to prepare for competitive examinations.

Half a million people in the country repose their faith in
Employment News/Rozgar Samachar
published by the **Publications Division,**
Ministry of Information & Broadcasting, Government of India.



For copies please contact your Newspaper Agent or Write to The Assistant Editor
(Circulation), Employment News, R.K. Puram, East Block-IV, Level-V,
New Delhi-110 066. Tel.No.6107405

Employment News/ Rozgar Samachar

सुनहरा अवसर

**युवक, युवतियां
और अवकाशप्राप्त लोग भी
अच्छा कमा सकते हैं !
प्रकाशन विभाग के एजेंट बनें
देखिए, कितना आसान है !**

25 रुपये देकर **फुटकर एजेंट** बनें
और प्राप्त आर्डर पर 25 प्रतिशत कमीशन लें
अथवा
1000 रुपये देकर **थोक एजेंट** बनें
और प्रतिवर्ष 12,000 रुपये या अधिक की पुस्तकों के
प्राप्त आर्डर पर 33-1/3 प्रतिशत कमीशन प्राप्त करें
इसके अलावा दो लाख रुपये या अधिक की पुस्तकों की बिक्री पर
6 प्रतिशत अतिरिक्त बोनस भी

हम इन विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित करते हैं :

भारतीय कला, इतिहास और संस्कृति, भारतभूमि और उसके निवासी, वनस्पति
और जीव-जंतु, विज्ञान और टेक्नोलॉजी, बाल साहित्य, आधुनिक भारत के
निर्माता व अन्य जीवनियां, गांधी साहित्य, तथा 'भारत' (संदर्भ ग्रंथ)

अधिक जानकारी के लिए कृपया संपर्क करें :



प्रकाशन विभाग के बिक्री केंद्र :

पटियाला हाउस, जिलक मार्ग, नई दिल्ली; सुपर बाजार कनाट प्लेस, नई दिल्ली; हाल नं. 196, पुराना सचिवालय,
दिल्ली; राजाजी भवन, चेन्नई; 8, एस्टेनेड ईस्ट, कलकत्ता; बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना;
गवर्नमेंट प्रेस के निकट, तिरुअर्नतपुरम; 27/6, राम मोहन राय मार्ग, लखनऊ; कामस हाउस, करीमभाई रोड, बालाई
पायर, मुंबई; राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन, हैदराबाद; प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला
बंगलौर।

प्रेस सूचना कार्यालय के विक्रय केंद्र :

सो.जी. ओ. कम्प्लेक्स, 'ए' विंग, ए.बी रोड, इंदौर; 80 मालवीय नगर, भोपाल; क-21, नंद निकेतन, मालवीय मार्ग,
'सो' स्कौम, जयपुर।